विषय-सूची

श्रीहरि

सम्पादकका निवेदन

सत्य सुखके विघातक जडवाद के इस विकास-युगमे, जहाँ ईश्वर और ईश्वरीय चर्चा को व्यर्थ बतलाने और माननेका दुःसाहस किया जा रहा है, जहाँ परलोकका सिद्धान्त कल्पना-प्रसूत समझा जाता है, जहाँ ज्ञान-वैराग्य-भक्तिकी बातोंको अनावश्यक और देश-जातिकी उन्नतिमे प्रतिबन्धकरूप बतलाया जाता है, जहाँ भौतिक उन्नतिको ही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय समझा जाने लगा है, जहाँ केवल इन्द्रिय-सुख ही परम सुख माना जाता है और जहाँ प्रायः समूचा साहित्य-क्षेत्र जड़ उन्नतिके विधायक ग्रन्थो, मौज-शौकके उपन्यासो और गल्पो एवं कुरुचि-उत्पादक शब्दाडम्बरपूर्ण रसीली कविताओ की बाढ़ से बहा जाता है, वहाँ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और निष्काम कर्मयोग विषयक तात्त्विक विषयोकी पुस्तकसे सबको सन्तोष होना बहुत ही कठिन है, तथापि गत तीन वर्षोंके अनुभवसे मुझे यह पता लगा है कि नास्तिकताकी इस प्रबल आँधीके आनेपर भी ऋषि-मुनिसेवित पुण्यभूमि भारतके सुदृढ़मूल आध्यात्मिक सघन छायायुक्त विशाल तरुवरकी जड़ अभी नहीं हिली है और उसका हिलना भी बहुत ही कठिन मालूम होता है। इस समय भी भारतके आध्यात्मिक जगत्मे सच्चे जिज्ञासुओ और साधु-स्वभावके मुमुक्षुओका अस्तित्व है, यद्यपि उनकी सख्या घट गयी है। इस अवस्थामे यह आशा करना अयुक्त नहीं होगा कि इस सरल भाषामे लिखी हुई तत्त्वपूर्ण पुस्तकका अच्छा आदर होगा और लोग इससे विशेष लाभ उठावेगे।

इन पक्तियोके लेखककी दृष्टिमे इस ग्रन्थके रचयिताका स्थान बहुत ही ऊँचा है । आध्यात्मिक जगत्मे इस प्रकारके महान् पुरुष बहुत ही थोड़े है। देवर्षि नारदने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।

(भक्तिसूत्र ३९)

महापुरुषोका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है यानी 'सच्चे सत्पुरुष सहजमे मिलते नही, मिलनेपर पहचाने नही जाते, तथापि इनका सङ्ग कभी व्यर्थ नही जाता ।' इसी कथन के अनुसार मेरी यह धारणा है कि लोगोने इन्हे भलीभाँति समझा या पहचाना नही है। वास्तवमे पहचानना है भी कठिन, एक सीधे-सादे साधारण बोलचालमे अनपढ-से प्रतीत होनेवाले और गृहस्थमें रहकर व्यापारी-जीवन व्यतीत करनेवालेको इस रूपमे पहचानना भी कठिन है । मैंने देखा जब अपनेको पढ़े-लिखे समझनेवाले लोग पहले-पहल इनसे मिलते है या इनका कोई प्रवचन सुनते है तो आरम्भमे इनकी हिन्दी भाषा और शब्दोके उच्चारणमे दोष देखकर प्राय. समझ लेते है कि यहाँ क्या रक्खा है। कही-कही तो लोग ऊबकर उठ भी जाते है, परन्तु जो धैर्य धारणकर कुछ समयतक बैठे रहते है, उन्हे इनका तात्त्विक विवेचन सुनकर चकित होना पडता है । लोगोमे इस विषयकी ओर रुचि उत्पन्न हो, इसलिये बड़े उत्साहके साथ 'कल्याण' मे प्रकाशनार्थ आप कृपापूर्वक लेख लिखवा दिया करते है । आप शुद्ध हिन्दी नही लिख सकते, इसलिये मारवाड़ी-मिश्रित हिन्दीमे ही इनके लेख होते है, मै अपने शक्तिभर आपके

भावोंकी रक्षा करते हुए भाषाका संशोधन कर लिया करता हूँ, इस ग्रन्थमें प्रकाशित लेखोंके सम्बन्धमे भी ऐसा ही किया गया है। यद्यपि मैंने आपके भावोंकी रक्षाकी ओर पूरा ध्यान रक्खा है, तथापि मैं दृढ़तासे कह नहीं सकता कि सभी जगह मैं भावोंकी रक्षा कर पाया हूँ। कारण कई जगह तो मुझे ऐसे भाव मिले हैं, जिनके समझनेमें बहुत समय लगाना पड़ा है। ऐसी स्थितिमें कहीं-कहीं भावोंमें यत्किञ्चित् परिवर्तन हो गया हो तो भी आश्चर्य नहीं है। मुझे एक ऐसे सत्पुरुषके सङ्गका और उनके लेखोंके सम्पादनका सुअवसर प्राप्त हुआ इसे मैं अपने लिये बहुत सौभाग्य समझता हूँ।

ग्रन्थकारके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ लिखा है, सो केवल मेरी अपनी तुच्छ धारणा है, मैं किसीसे यह नहीं कहना चाहता कि कोई भी मेरे इन शब्दोंके अनुसार ऐसा ही मान ले, न ग्रन्थकार ही ऐसा चाहते हैं। इस निवेदनमें मैंने जो कुछ लिख दिया है, सो भी ग्रन्थकारसे बिना पूछे और बतलाये ही लिखा है। यदि मैं उनसे पूछता तो मेरा विश्वास है कि वे मुझे इन उद्गारोंके प्रकाशनके लिये भी कभी अनुमति नहीं देते! अस्तु।

अब पाठक-पाठिकाओंसे यह निवेदन है कि वे इस ग्रन्थको मननपूर्वक पढ़ें और यदि इसमेंसे उन्हें अपने लिये कोई बात लाभजनक प्रतीत हो तो उसे अवश्य ग्रहण करें।

विनीत

गोरखपुर
विजयादशमी १९८६

हनुमानप्रसाद पोद्दार
('कल्याण'-सम्पादक)

विनय

यह पुस्तक कुछ लेखोका सग्रह है। लेख 'कल्याण'के लिये समय-समयपर लिखे गये थे और ये सव 'कल्याण'मे प्रकाशित भी हो चुके है। वड़े-वड़े विद्वान् और महात्माओंके सामने पारमार्थिक विपयोपर मेरा कुछ लिखना वास्तवमे शोभा नहीं देता, इन विषयोंपर बड़े विद्वानोकी भी कलम रुकती है, फिर मै तो एक साधारण मनुष्य हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीभगवन्नाम-के प्रभावसे मैने जो कुछ समझा है, उसीका कुछ भाव इन लेखोमें दिखलानेकी चेप्टा की गयी है। इस पुस्तकसे यदि किसी पाठकके चित्तमे तनिक भी ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका सञ्चार होगा, तनिक-सी भी भगवद्भक्तिकी भावना उत्पन्न होगी और मनके गम्भीर प्रश्नोंमें दो-एकका भी समाधान होगा तो वड़े आनन्दकी वात है।

मै न तो विद्वान् हूँ और न अपनेको उपदेश-आदेश एव शिक्षा प्रदान करनेका ही अधिकारी समझता हूँ। मैने तो अपने मनके विनोदके लिये कुछ समय भगवच्चर्चामे लगानेका प्रयत्न-मात्र किया है, अन्तर्यामीकी प्रेरणासे जो कुछ लिखा गया है सो उसीकी वस्तु है, मेरा तो इसमे भी कोई अधिकार नही है।

इन लेखोमे प्रतिपादित सिद्धान्तोके लिये मै यह नही कहता कि यह सबको मान लेने चाहिये या इनके विरुद्ध कोई सिद्धान्त ठीक नहीं हैं। मैंने केवल अपने हृदयके उन भावोको कुछ-कुछ प्रकट करनेकी चेष्टाकी है, जिनके सम्वन्धमे मुझे अपने मनमें कोई भ्रान्ति नही है।

मेरा सभी पाठकोसे सविनय निवेदन है कि वे कृपा कर इन निवन्धोको मन लगाकर पढे और इनमे रही हुई त्रुटियाँ मुझे वतलाये।

विनीत—जयदयाल गोयन्दका

प्रकाशकका निवेदन

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके आध्यात्मिक निबन्धोके सग्रह तत्त्व-चिन्तामणि भाग १ का यह सत्तरहवॉ सस्करण है। अब तक इसके सोलह सस्करण समाप्त हो गये, यह इस सुन्दर ग्रन्थ-की उपयोगिताका परिचायक है। जिन सज्जनोने इसे लेकर हमें सत्तरह सस्करण प्रकाशित करनेको उत्साहित किया, उनके हम कृतज्ञ है। इस ग्रन्थपर अनेक साधु-महात्मा, अनुभवी विद्वान्, पत्र-पत्रिका-सम्पादको और पाठकोंकी जो सम्मतियाँ आयी है, उनसे भी इसकी परम उपादेयताका पता चलता है।

इस ग्रन्थके दूसरे, तीसरे, चौथे, पॉचवे, छठे और सातवे भागका भी खूब प्रचार हो रहा है। आशा है, प्रेमी सज्जनगण इन ग्रन्थोंसे लाभ उठायेंगे।

विनीत

प्रकाशक

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

ज्ञानकी अनिर्वचनीय स्थिति

जिस प्रकार असत्य, हिंसा और मैथुनादि कर्म बुद्धिमे बुरे निश्चित हो जानेपर भी मन उन्हे नही छोड़ता, इसी प्रकार बुद्धि विचारद्वारा ससारको कल्पित निश्चय कर लेती है परन्तु मन इस बातको नहीं मानता। साधककी एक ऐसी अवस्था होती है और इस अवस्थाको इस प्रकारसे व्यक्त किया जाता है कि 'मेरी बुद्धिके विचारमे ससार कल्पित है' इसके पश्चात् जब आगे चलकर मन भी इस बातको मान लेता है तब ससारमे कल्पित भाव हो जाता है। परन्तु यह भी केवल कल्पना ही होती है। इसके बाद जब अभ्यास करते-करते ऐसी स्थिति प्रत्यक्षवत् हो जाती है तब साधकको किसी समय तो संसारका चित्र 'आकाशमे तिरवरो' की तरह भासित होता है और किसी

समय वह भी नहीं होता । जैसे आकाशमें तिरवरे देखनेवालेको यह ज्ञान बना रहता है कि 'वास्तवमे आकाशमें कोई विकार नहीं है, बिना हुए ही भासित होता है', इसी प्रकार उस साधक-का भी भास होने और न होनेमे समान ही भाव रहता है, उसे ससारकी सत्ताका किसी कालमे किसी और प्रकारसे भी सत्य भास नहीं होता । इस अवस्थाका नाम 'अकल्पित स्थिति' है । साधककी ऐसी अवस्था ज्ञानकी तीसरी भूमिकामे हुआ करती है, परन्तु इस अवस्थामे भी इस स्थितिका ज्ञाता एक धर्मी रह जाता है। इस तीसरी भूमिकामे साधनकी गाढ़ताके कारण साधकके व्यावहारिक कार्योमे भूले होनी सम्भव है। परन्तु भगवत्प्राप्तिरूप चौथी भूमिकामे प्राय. भूले नहीं होती, उस अवस्थामे तो उसके द्वारा न्याययुक्त समस्त कार्य सुचारुरूपसे स्वाभाविक ही बिना सङ्कल्प हुआ करते है । जैसे श्रीभगवान्‌ने गीतामे कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(४ । १९)

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और सङ्कल्पसे रहित है, ज्ञान-रूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोवाले उस पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते है ।' पञ्चम भूमिकामे व्यावहारिक कार्योमें भूले हो सकती है परन्तु तीसरी भूमिकावालेकी अवस्था साधनरूपा है और पाँचवी भूमिकावाले की स्थिति स्वाभाविक है । तीसरी भूमिकाके

बाद 'साक्षात्कार' होता है, इसीको मुक्ति कहते है। कोई जैन आदि मतावलम्बी लोग तो मृत्युके बाद मुक्ति मानते है; परन्तु हमारे वेदान्तके सिद्धान्तमे जीवन्मुक्ति भी मानी गयी है, मृत्युके पहले भी ज्ञान हो सकता है। इस अवस्थामे उसका शरीर तथा शरीरके द्वारा होनेवाले कर्म केवल लोगोको देखने-मात्रके लिये रह जाते है। उसमे कोई 'धर्मी' नही रहता। यदि कोई कहे कि जब उसमे चेतन ही नही रहा तो फिर क्रिया क्योकर होती है ? इसके उत्तरमे कहा जाता है कि समष्टि-चेतन तो कही नही गया, व्यष्टि-भावसे हटकर उसकी स्थिति शुद्ध चेतनमे हो गयी। समष्टि-चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिसे क्रिया हुआ करती है, इसमे कोई बाधा नही पड़ती। इसपर यदि कोई फिर यह कहे कि चेतन तो जड़ पदार्थ और मुर्देमे भी है, उनमे क्रिया क्यो नही होती ? इसका उत्तर यह है कि उनमे क्रिया न होनेका कारण अन्तःकरणका अभाव है, यदि योगीजन एक चित्तकी अनेक कल्पना करके मुर्दे या जड़ पदार्थमे चित्तका प्रवेश करवा दे तो उसमे भी क्रियाओका होना सम्भव है।

कोई पूछे कि ज्ञानी कौन है ? तो इसके उत्तरमे कुछ भी नही कहा जा सकता। यदि शरीरको ज्ञानी कहा जाय तो जड़ शरीरका ज्ञानी होना सम्भव नही, यदि जीवको ज्ञानी कहे तो ज्ञानोत्तरकालमे उस चेतनकी 'जीव' सज्ञा नही रहती और यदि शुद्ध चेतनको ज्ञानी कहे तो शुद्ध चेतन तो कभी अज्ञानी हुआ ही नही। इसलिये यह नही बतलाया जा सकता कि ज्ञानी कौन है ?

ज्ञानीकी कल्पना अज्ञानीके अन्त.करणमे है, शुद्ध चेतनकी दृष्टिमे तो कोई दूसरा पदार्थ है ही नही। ज्ञानकी जब दृष्टि ही नही रही तो फिर सृष्टि कहॉ रहती ? अज्ञानीजन इस प्रकार कल्पना किया करते है कि इस शरीरमें जो जीव था सो समष्टि-चेतनमे मिल गया, समष्टि-चेतनके जिस अशमे अन्त:करणका अध्यारोप है उस अन्त.करणसहित उस चेतनके अशका नाम ज्ञानी है। वास्तविक दृष्टिमे ज्ञानी किसकी संज्ञा है यह कोई भी वाणीद्वारा नही बतला सकता; क्योकि ज्ञानकी दृष्टिमे ज्ञानी-पन भी नही है। ज्ञानी और अज्ञानीकी संज्ञा केवल लोक शिक्षाके लिये है और अज्ञानियो के अन्दर ही इसकी कल्पना है। जिस प्रकार गुणातीतके 'लक्षण' बतलाये जाते है। भला जो तीनो गुणोसे अतीत है उसमे 'लक्षण' कैसे ? लक्षण तो अन्त:करणमे बनते है और अन्त.करणसे होनेवाली क्रिया त्रिगुणात्मिका है। बात यह है कि गुणातीतको समझनेके लिये अन्त.करणकी क्रियाओके लक्षणोका वर्णन किया जाता है। जैसे श्रीमद्भ-गवद्गीतामे कहा है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(१४। २२)

इसीके आगे २३, २४ और २५ वे श्लोकोमे भी गुणातीतके लक्षण बतलाये गये है। उपर्युक्त २२ वे श्लोकके 'प्रकाश' शब्दसे अन्त:करण और इन्द्रियोमे उजियाला, प्रवृत्तिसे चेष्टा और मोहसे निद्रा, आलस्य (प्रमाद या अज्ञान नही) अथवा ससारके ज्ञानमे

सुषुप्तिवत् अवस्था समझनी चाहिये। अन्त करणमे कोई 'धर्मी' न रहनेके कारण 'द्वेष' और आकाङ्क्षा तो किसको हो ? राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि न होनेके कारण यह सिद्ध होता है कि उसमे कोई 'धर्मी' नही है। यदि जड अन्त.करणके साथ समष्टि-चेतनकी लिप्तता होती तो जड़ अन्त.करणमें राग-द्वेषादि विकारोका होना सम्भव होता, परन्तु समष्टि-चेतनका सम्बन्ध अन्त.करणसे नही रहता, केवल उसकी सत्ता-स्फूर्तिसे चेष्टा होती है। ये सव लक्षण भी वहीतक है जहाँतक ससारका चित्र. है और ये साधकके लिये आदर्श उपायस्वरूप है, इसीलिए शास्त्रोंमे इनका उल्लेख है।

गुणातीतकी वास्तविक अवस्थाको कोई दूसरा न तो जान सकता है और न वतला ही सकता है, वह स्वसवेद्य स्थिति है। परन्तु यदि कोई इस प्रकार परीक्षा करे कि मुझमे ज्ञानीके लक्षण है या नही ? तो जानना चाहिये कि इसे ज्ञान नही है, लक्षणोंकी खोज से यह बात सिद्ध हो गयी कि उसकी स्थिति शरीरमे है, उस ज्ञान की सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है, नहीं तो खोजनेवाला कौन और स्थिति किसकी ? और यदि खोजना ही चाहे तो केवल शरीरमे ही क्यो खोजे, पाषाण या वृक्षोमें उसे क्यो न खोजे ? केवल शरीरमे ढूँढ़नेसे उसका शरीरमे अहभाव सिद्ध होता है। इससे तो वह अपने आप ही क्षुद्र बना हुआ है। हाँ, यदि साधक शरीरसे अलग होकर (द्रष्टा बनकर) पत्थर और वृक्षादिके साथ अपने शरीरकी सादृश्यता करता हुआ विचार करे तो इसमे उसे लाभ होना सम्भव है। जैसे श्रीगीताजीमें कहा है--

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
(१४।१९)

'जिस कालमे द्रष्टा तीनो गुणोके सिवा अन्य किसीको कर्ता नही देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमे वर्तते है ऐसा देखता है और तीनो गुणोसे अति परे सच्चिदानन्दघन मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है; उस कालमे वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।'

परन्तु जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान नही हुआ' वह भी ज्ञानी नही है; क्योकि वह स्पष्ट कहता है । जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान हो गया' उसे भी ज्ञानी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यों कहनेसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन पदार्थ सिद्ध होते है और जो यह कहता है कि 'ज्ञान हुआ कि नही मुझे मालूम नही' सो भी ज्ञानी नही है, क्योंकि ज्ञानोत्तरकालमे इस प्रकारका सन्देह रह नही सकता । तो ज्ञानी क्या कहे ? इसका उत्तर नही मिलता । इसी-लिये यह स्थिति 'अनिर्वचनीय' कही गयी है ।

ज्ञानकी दुर्लभता

किसी श्रद्धालु पुरुषके सामने भी वास्तविक दृष्टिसे महापुरुषोंके द्वारा यह कहना नही बन पडता कि 'हमको ज्ञान प्राप्त है', क्योकि इन शब्दोसे ज्ञानमें दोष आता है। वास्तवमे पूर्ण श्रद्धालुके लिये तो महापुरुषसे ऐसा प्रश्न ही नही बनता कि 'आप ज्ञानी है या नही ?' जहाँ ऐसा प्रश्न किया जाता है वहाँ श्रद्धामे त्रुटि ही समझनी चाहिये और महापुरुषसे इस प्रकारका प्रश्न करनेमे प्रश्नकर्ताकी कुछ हानि ही होती है। यदि महापुरुष यो कह दे कि मै ज्ञानी नही हूँ तो भी श्रद्धा घट जाती है और यदि वह यह कह दे कि मै ज्ञानी हूँ तो भी उसके मुँहसे ऐसे शब्द सुनकर श्रद्धा कम हो जाती है। वास्तवमे तो मै अज्ञानी हूँ या ज्ञानी इन दोनोमे से कोई-सी बात कहना भी महापुरुषके लिये नही बन पड़ता, यदि वह अपनेको अज्ञानी कहे तो मिथ्यापनका दोष आता है और ज्ञानी कहे तो नानात्वका। इस लिये वह यह भी नही कहता कि मै ब्रह्मको जानता हूँ और यह

भी नही कहता कि मैं नही जानता। वह ब्रह्मको जानता है ऐसा भी उससे कहना नही बनता। परन्तु वह नही जानता हो ऐसी बात भी नही है। श्रुति कहती है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केन० २।२-३)

इसीलिये इसका नाम अनिर्वचनीय स्थिति है, इसीलिये वेदमे दोनो प्रकारके शब्द आते है और इसीलिये महापुरुप यह नही कहते कि मुझे प्राप्ति हो गयी। इस सम्बन्धमे वे स्वयं अपनी ओरसे कुछ भी न कहकर वेद-शास्त्रोकी तरफ सकेत कर देते है परन्तु ऐसा भी नही कहते कि मुझे प्राप्ति नही हुई। ऐसा कहना तो उत्तम आचरण करनेवाले आचार्य या नेता पुरुपोंके लिये भी योग्य नही, क्योकि इसमे उनके अनुयायियोंका ब्रह्मकी प्राप्तिको अत्यन्त कठिन मानकर निराश होना सम्भव है। जैसे यदि आज कोई परम सम्माननीय पुरुप कह दे कि मुझे प्राप्ति नही हुई है, मैं तो स्वय प्राप्तिके लिये उत्सुक हूँ तो ऐसा कहनेसे उनके अनुयायीगण या तो यह समझ बैठते है कि जब इनको ही प्राप्ति न हुई तो हमको क्योकर होगी या यो समझ लेते है कि इतने अशमे सम्माननीय पुरुपके शब्द या तो अयथार्थ है या असली स्थितिको छिपानेवाले है और इस प्रकारके दोपारोपमे उन लोगोंकी श्रद्धामे कुछ कमी होना सम्भव है। अतएव

इस विषयमे मौन ही रहना चाहिये। इन सब बातोपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि महापुरुषके लिये ज्ञानी व अज्ञानी किसी भी शब्दका प्रयोग उसके अपने मुखसे नही बनता। इतना होनेपर भी महापुरुष यदि अज्ञानी साधकको समझानेके लिये उसे ज्ञानोपदेश करते समय उसीकी भावनाके अनुसार अपनेमे ज्ञानीकी कल्पना कर अपनेको ज्ञानी शब्दसे सम्बोधित कर दे तो भी कोई हानि नही। वास्तवमे उसका यों कहना भी उस साधककी दृष्टिमे ही है और ऐसा कहना भी उसी साधकके सामने सम्भव है जो पूर्ण श्रद्धालु और परम विश्वासी हो, जो महापुरुषके शब्दोंको सुनते ही स्वय वैसा बनता जाय और जिस स्थितिका वर्णन महापुरुष करते हो उसी स्थितिमे स्थित हो जाय। इसपर ऐसा कहा जा सकता है कि श्रद्धा और विश्वास तो पूर्ण है, परन्तु वैसी स्थिति नही होती, इसके लिये वह बेचारा श्रद्धालु साधक क्या करे? यह ठीक है, परन्तु साधकके लिये इतना तो परमावश्यक है कि वह श्रवणके अनुसार ही एक ब्रह्ममे विश्वासी होकर उसीकी प्राप्तिके लिये पूरी तरहसे तत्पर हो जाय, जबतक उसे प्राप्ति न हो तबतक वह उसके लिये परम व्याकुल रहे। जैसे किसी मनुष्यको एक जानकारके द्वारा उसके घरमे गड़ा हुआ धन मालूम हो जानेपर वह उसे खोदकर निकालनेके लिये व्याकुल होता है यदि उस समय उसके पास बाहरके आदमी बैठे हुए हों तो वह सच्चे मनसे यही चाहता है कि कब वे लोग हटे, कब मैं अकेला रहूँ और कब उस गड़े हुए धनको निकालकर हस्तगत कर सकूँ। इसी प्रकार जो साधक यह

समझता है कि मेरे साधनमे बाधा देनेवाले आसक्ति और अज्ञान आदि दोष कब दूर हों और कब मैं अपने परमधन परमात्माको प्राप्त करूं। जितनी ही देर होती है उतनी ही उसकी व्याकुलता और उत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती चली जाती है और वह उस विलम्बको सहन नही कर सकता। यदि इस प्रकारके साधकके सामने महापुरुष स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनेको ज्ञानी स्वीकार कर ले तो भी कोई हानि नही, परन्तु इससे नीची श्रेणी के साधक और अपूर्णप्रेमियोके सामने यो कहनेसे उस महापुरुषकी तो कोई हानि नही होती; परन्तु अनधिकारी होनेके कारण उस सुननेवालेके पारमार्थिक विषयमें हानि होना सम्भव है। यदि यह बात सभीको स्पष्ट कहनेको होती तो शास्त्रोमे इसे परम गोपनीय न कहा जाता और केवल अधिकारीको ही कहनी चाहिये ऐसी विधि न होती।

कोई यह कहे कि महापुरुषकी परीक्षा कैसे की जाय और यदि बिना परीक्षाके ही किसी अयोग्य व्यक्तिको गुरु वा उपदेशक मान लिया जाय तो शास्त्रोमे उससे उलटी हानि होना कहा गया है। यह प्रश्न और शास्त्रोका कथन तो उचित ही है; परन्तु जिसका सङ्ग करनेसे परमात्मामें, उस महापुरुषमे और शास्त्रोमे श्रद्धा उत्पन्न हो जाय, उसे गुरु या उपदेशक माननेमे कोई हानि नही। यदि कोई पूर्ण न भी हो तो जहाँतक उसकी गम्य है वहाँतक तो वह पहुँचा ही सकता है, (इस दृष्टिसे महापुरुषकी सङ्गति करनेवाले साधकोंका सङ्ग भी उत्तम और लाभदायक है) आगे परमात्मा स्वयं उसे निभा लेते हैं। साधकको आवश्यकता है परमात्माके

परायण होनेकी। श्रीपरमात्माकी शरण लेनेमात्रसे ही सब कुछ हो सकता है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

अर्थात् जो अनन्य भावसे मुझमे स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते है उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थित पुरुषोंका योगक्षेम मै स्वय वहन करता हूँ। ससारमें भी यही वात देखनेमे आती है कि यदि कोई किसीके परायण हो जाता है तो उसकी सारी सँभाल वही रखता है, जैसे बच्चा जवतक अपनी माताके परायण रहता है तवतक उसकी रक्षाका और सब प्रकारकी सँभालका भार माता स्वय ही अपने ऊपर लिये रहती है। जवतक वालक वडा होकर स्वतन्त्र नही होता तवतक माता-पिताके प्रति उसकी परायणता रहती है और जवतक परायणता रहती है तबतक माता-पितापर ही उसका सारा भार है। इसी प्रकार केवल एक परमात्माकी शरण लेनेसे ही सारे काम सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु शरण लेनेका काम साधकका है। शरण होनेके वाद तो प्रभु स्वय उसका सारा भार सँभाल लेते हैं। अतएव कल्याण के प्रत्येक साधकको परमात्माकी शरण लेनी चाहिये।

भ्रम अनादि और सान्त है

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेके कारण ज्ञानकी प्राप्ति करनी नही पडता और न उसकी प्राप्तिमे कोई परिश्रम और यत्नकी ही आवश्यकता है। किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेमे परिश्रम और यत्न करना पड़ता है, परन्तु यहाँ तो केवल नित्यप्राप्त ब्रह्ममें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है उस भ्रमको मिटा देना ही कर्तव्य है। वास्तवमे यह भ्रम ब्रह्मको नही है। यह भ्रम उसीमे है जो इस संसारके विकारको नित्य मानता है। वास्तवमे तो ब्रह्ममे भूल न होनेके कारण उसे मिटानेके लिये परिश्रम करना भी एक भ्रम ही है, परन्तु जबतक भूल है तबतक भूलको मिटानेका साधन करना चाहिये, अवश्य ही उन लोगोको, जो इस भूलमे है। जो इस भूलको मानता है उसके लिये तो यह अनादिकालसे है। ऐसा कहा जाता है कि अनादिकालसे होने-वाली वस्तुका अन्त नहीं होता। पर यह ठीक नही, क्योंकि भूल तो मिटनेवाली ही होती है, यदि भूल है तो उसका अन्त भी आवश्यक है। यदि ऐसा माना जाय कि यह सान्त नही है तो फिर किसीको भी 'प्राप्ति' नही हो सकती। इसलिये यह अनादि और सान्त अवश्य है। यदि यह माना जाय कि यह भूल अनादिकालसे नही है, पीछेसे हुई

है तो इसमें तीन दोष आते हैं—प्रथम तो 'प्राप्त' पुरुषोका पुन. भूलमें पड़ना सम्भव है, दूसरे सृष्टिकर्ता ईश्वरपर दोष आता है और तीसरे नये जीवोंका बनना सम्भव होता है। इस हेतु से यह अनादि और सान्त ही सिद्ध होती है। वास्तवमे कालकी कल्पना भी मायामें ही है, क्योंकि ब्रह्म तो शुद्ध और कालातीत है।

वेद, शास्त्र और तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका भी यह कथन है कि एक शुद्ध बोध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नही है; परन्तु किसी भी व्यक्तिके द्वारा 'संसार असत् है' यो कहा जाना उचित नही; क्योकि वास्तवमे यो कहना वनता नही। संसारको असत् माननेसे ससारके रचयिता सृष्टिकर्ता ईश्वर, विधि-निषेधात्मक शास्त्र, लोक-परलोक और पाप-पुण्य आदि सभी व्यर्थ ठहरते है और इनको व्यर्थ कहना या मानना अनधिकारकी वात है। जिस वास्तविकतामे शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यका आत्यन्तिक अभाव है उसमे तो कुछ कहना वनता नही, कहना भी वही वनता है कि जहॉ अज्ञान है और जहॉ कहना वनता है वहॉ सृष्टिके रचयिता, ससार और शास्त्र आदि सव सत्य है और इन सवको सत्य मानकर ही शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। सात्त्विक आचरण और भगवान्की विशुद्ध भक्तिसे अन्त करणकी शुद्धि होनेपर जिस समय भ्रम मिट जाता है उसी समय साधक कृतकृत्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है।

—.०.—

निराकार-साकार-तत्त्व

एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ भी भासता है सो वास्तवमें नहीं है, केवल स्वप्नवत् प्रतीति होती है। वेद, वेदान्त और उपनिषद्का यही सर्वोच्च सिद्धान्त है, यही स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीका मत है और यही वास्तवमें न्यायसिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु यह बात इतनी ऊँची और गोपनीय है कि सहजहीमें सहसा इसका प्रकाश करना अनुचित है। इस सिद्धान्तको कहने और सुननेवाले बहुत ही थोड़े हुआ करते हैं, इसको कहनेका वही अधिकारी है जो स्वयं इस स्थितिमें हो और सुननेका भी वही अधिकारी है जो सुननेके साथ ही इस स्थितिमें स्थित हो जाय। जो इस प्रकारके नहीं हैं उनको न कहनेका अधिकार है और न सुननेका। जिनको राग-द्वेष होता है, जो सांसारिक हानि-लाभमें दु:खित और हर्षित होते हैं, जो दु:ख और सुखको भिन्न-भिन्न रूपसे अनुभव करते हैं तथा जो विषयलोलुप और इन्द्रियाराम हैं उनको तो इस सिद्धान्तके उपदेशसे उलटी हानि भी हो सकती है। वे लोग मान बैठते हैं कि जब संसार स्वप्नवत् है तो असत्य, व्यभिचार, हिंसा और छल-कपट आदि पाप भी स्वप्नवत् ही हैं। चाहे सो करो, कोई हानि तो होगी नहीं। यों मानकर वे लोग परिश्रमसाध्य सत्कर्मोंको त्यागकर भिन्न-भिन्न रूपमें पापाचरण करने लग जाते हैं; क्योंकि सत्कर्मोंके करनेकी अपेक्षा उन्हें छोड़ देना और पाप-कर्मोंमें लग

जाना सहज है। इसीलिये अनधिकारियोको इस सिद्धान्तका उपदेश न करनेके लिये शास्त्रोकी आज्ञा है, क्योकि अनधिकारी लोग इस सिद्धान्तको यथार्थरूपसे न समझकर सत्कर्मोंको त्याग देते है, ज्ञानकी प्राप्ति उन्हें होती नही अतएव उभयभ्रष्ट हो जाते है। यह दोहा प्रसिद्ध ही है–

ब्रह्मज्ञान उपज्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
'तुलसी' ऐसी आत्मा, सहज नरकमें जाय॥

इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामे भी कहा है–

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्त. समाचरन्॥

(३। २६)

'ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि कर्मोंमे आसक्तिवाले अज्ञानियोका बुद्धिमे भेद अर्थात् कर्मोंमे अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किंतु स्वय परमात्माके स्वरूपमे स्थित हुआ सव कर्मोंको अच्छी तरह करता हुआ उनसे भी वैसे ही कर्म करावे।'

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मोंमे यही अन्तर है कि ज्ञानीके कर्म अनासक्त भावसे स्वाभाविक होते है और अज्ञानीके कर्म आसक्तिसहित होते है। श्रीगीता मे कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(३। २५)

'हे अर्जुन! कर्ममे आसक्त हुए अज्ञानीजन जेसे कर्म करते

है वैसे ही अनासक्त हुआ ज्ञानी भी लोकशिक्षाको चाहता हुआ कर्म करे।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ब्रह्मकी चर्चा केवल अधिकारियोमे ही होनी चाहिये।

लोग कह सकते है कि जब एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नही तो इससे सृष्टि और सृष्टिकर्ता ईश्वरका भी न होना ही सिद्ध होता है और यदि यही बात है तो फिर इनके प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणभूत शास्त्र और प्रत्यक्ष दीखनेवाली सृष्टिकी क्या दशा होगी ? इसका उत्तर यही है कि जैसे आकाश निराकार है, आकाशमे कही कोई आकार नही, परन्तु कभी-कभी आकाशमे बादलके टुकड़े दीख पड़ते है, वे बादलके टुकड़े आकाशमे ही उत्पन्न होते है, उसीमे दीख पड़ते है और अन्तमे उसी आकाशमे शान्त हो जाते है। आकाशकी वास्तविक स्थितिमे कोई अन्तर नही पड़ता, परन्तु आकाशका जितना स्थान बादलोसे आवृत होता है उतने अशमे उसका एक विशेष रूप दीखता है और उसमे वृष्टि आदिकी क्रिया भी होती है।

इसी प्रकार एक ही अनन्त शुद्ध ब्रह्ममे जितना अश मायासे आच्छादित दीखता है उतने अशका नाम सगुण ईश्वर है, वास्तवमे यह सगुण ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे कभी कोई दूसरी भिन्न वस्तु नही, किन्तु मायाके कारण भिन्न दीखनेसे सगुण ईश्वरको लोग भिन्न मानते है। यही भिन्नरूपसे दीख पडनेवाला सगुण चैतन्य, सृष्टिकर्ता ईश्वरहै; इसीको आदिपुरुष, पुरुषोत्तम और मायाविशिष्ट

ईश्वर कहते है। आकाशके अशमे मेघोकी भॉति इस सगुण चैतन्यमें जो यह सृष्टि दीखती है, वह मायाका कार्य है। माया सृष्टिकर्ता ईश्वरकी शक्तिका नाम है। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति होती है उसी प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसकी शक्ति माया है। इसे ही प्रकृति कहते है और इसीका नाम अज्ञान है।

यह माया क्या है और कैसे उत्पन्न होती है ? यह एक भिन्न विषय है, अतएव इस विषयपर यहाँ कुछ न लिखकर मूल विपयपर ही लिखा जाता है। इस वर्णनसे यह समझना चाहिये कि निराकार आकाशकी भॉति उस सर्वव्यापी अनन्त चेतनका नाम तो शुद्ध ब्रह्म है, वास्तवमे आकाशका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है, क्योकि आकाशकी तो सीमा भी है और उसका कोई आकार न होनेपर भी उसमे शब्दरूपी एक गुण भी है, परन्तु शुद्ध ब्रह्म तो असीम, अनन्त, निर्गुण, केवल और एक ही है, इसीलिये वह अनिर्वचनीय है और इसीलिये उसका उपदेश केवल उसी अधिकारीके प्रति किया जा सकता है, जो उसे धारण करनेमे समर्थ है। यह तो शुद्ध ब्रह्मकी वात हुई।

इसी शुद्ध ब्रह्मका जितना अश (आकाशके मेघोसे आवृत अशकी भॉति) अलग दीखता है वही मायाविशिष्ट सृष्टिकर्ता सगुण ईश्वर है और उसी परमात्माके एक अशमे सारे ब्रह्माण्डकी स्थिति है। अस्तु।

अव इसके वाद साकार ईश्वर यानी अवतारका विपय आता है, जव वह सगुण ईश्वर आवश्यकता समझते है तभी वह अपनी मायाको अधीन करके जिस रूपमे कार्य करनाहोता है उसी रूपमे

प्रकट हो जाते हैं। कभी मनुष्यरूपमे, कभी वाराह और नृसिंह-रूपमे, कभी मत्स्य और कच्छपरूपमे, कभी हंस और अश्वरूपमे, इसी प्रकार आवश्यकतानुसार अनेक रूपोमे ईश्वर साक्षात् अवतीर्ण हो लोगोको दर्शन देकर कृतार्थ करते है, परंतु उनका यो संसारमें प्रकट होना प्राकृत जीवोंके सदृश नही होता, ईश्वरके अवतीर्ण होनेका समय और हेतु भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४। ७-८)

'हे अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। मैं साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये तथा धर्मकी स्थापनाके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

इस समय पृथ्वीपर ऐसा कोई अवतार नही दीखता जो यो कह दे कि मैंने साधुओका उद्धार करनेके लिये अवतार लिया है, संसारमें साधु अनेक मिल सकते हैं; किन्तु उन साधुओके उद्धार के लिये अवतीर्ण होकर आनेवाला कोई नही दीखता। भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति यो कहनेवाला कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सब धर्मोंके आश्रयको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेवकी ही अनन्य शरण हो जा, मै तुझको सारे पापोंसे छुडा दूंगा, तू चिन्ता न कर।'

यों एकमात्र अपनी शरणसे ही पापोंसे मुक्त कर देनेका वचन देनेवाला इस समय ससारमे कोई अवतार नहीं !

कुछ दिनों पहले एक सज्जनने मुझसे पूछा था कि पृथ्वीपर पाप तो बहुत बढ़ गया है, क्या भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी नही आया ? यदि आया है तो भगवान् अवतार क्यों नही लेते ? मैने उनसे कहा था कि मुझे मालूम नही। यह तो कोई वात ही नही कि मै सभी वातोका जानकार होऊँ, भगवान् अवतार क्यो नही लेते, इस वातको भगवान् ही जाने। हाँ, यदि कोई मुझसे पूछे कि भगवान्‌के अवतार लेनेसे तुम प्रसन्न हो या नही, तो मै यही कहूँगा कि मै भगवान्‌के अवतार लेनेसे वहुत प्रसन्न हूँ, क्योकि इस समय यदि भगवान्‌का अवतार हो जाय तो मुझे भी उनके दर्शन हो सकते है। यदि कोई सरलतासे यह पूछे कि तुम्हारे अनुमानसे भगवान्‌के भअवतार लेनेका समय अभी आया है या नही तो मै अपने अनुमानसे यही कह सकता हूँ कि वह समय सम्भवतः अभी नही आया, यदि वह समय आया होता तो भगवान् अवतीर्ण हो जाते। कलियुगमे जैसा कुछ होना चाहिये अभीतक उससे कुछ अधिक नही हो रहा है। भगवानके अन्य अवतारोंके समय जैसा अत्याचार वढा था, धर्म और धर्मप्राण ऋषियोंकी जैसी दुर्दशा हुई थी वैसी अभी नही हुई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रके समयमे तो राक्षसोके द्वारा मारे हुए ऋषियोकी हड्डियोके ढेर लग गये थे।

प्रश्न — क्या ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य नहीं था। और यदि था तो उन्होंने राक्षसोंका वध क्यों नहीं किया ?

उत्तर — ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य था, परन्तु वे अपना तपोबल क्षीण करना नहीं चाहते थे। जिस समय श्रीविश्वामित्रजीने महाराज दशरथके पास आकर यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीराम-लक्ष्मणको माँगा उस समय भी उन्होंने यही कहा था कि 'यद्यपि मैं राक्षसोंका वध स्वयं कर सकता हूँ, परन्तु इससे मेरा तप क्षय होगा जिसको कि मैं करना नहीं चाहता। श्रीराम-लक्ष्मणके द्वारा राक्षसोंका वध होनेपर मेरे यज्ञकी रक्षा भी होगी तथा मेरा तपोबल भी सुरक्षित रह जायगा। श्रीराम-लक्ष्मण राक्षसोंको सहज्हीमें मार सकते हैं, इस बातको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते।' महाराज दशरथने मोहसे श्रीराम-लक्ष्मणको साधारण बालक समझकर अपत्य-स्नेहके वशीभूत हो विश्वामित्रसे कहा कि 'नाथ ! मैं स्वयं आपके साथ चलनेको तैयार हूँ, एक रावणको छोड़कर और सारे राक्षसोंको मार सकता हूँ। आप राम-लक्ष्मणको न लेकर मुझे ले चलिये।' इस प्रकार राजाको मोहमें पड़े हुए देखकर श्रीवसिष्ठजी महाराजने, जो भगवान् श्रीरामके प्रभावको तत्त्वसे जानते थे, दशरथजीको समझाकर कहा कि 'राजन् ! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो, ये साधारण बालक नहीं हैं, इन्हें कोई भय नहीं है, तुम प्रसन्नताके साथ इन्हें विश्वामित्रजीके साथ भेज दो।' इस प्रसङ्गसे यह जाना जाता है कि ऋषिगण सामर्थ्यवान् तो थे, परन्तु अपने तपोबलसे काम लेना नहीं चाहते थे।

कलियुगमें अभीतक ऐसा समय उपस्थित हुआ नही जान पड़ता कि जिससे भगवान्‌को अवतार लेना पड़े और भगवान यो सहसा अवतार लिया भी नही करते। पहले तो वे कारक पुरुषोको अपना अधिकार सौपकर भेजते है, जैसे मालिक अपनी दूकान सँभालनेके लिये विश्वासी मुनीमको भेजता है। पर जव वह देखता है कि मुनीम से कार्य सिद्ध नही होगा, मेरे स्वय गये बिना काम नही चलेगा तब वह स्वयं जाता है, इसी प्रकार जव कारक पुरुषोके भेज देनेपर भी भगवान्‌को अपने अवतार लेनेकी अवश्यकता प्रतीत होती है तव वे स्वय प्रकट होते है। कारक पुरुप उन्हे कहते है कि जो भगवत्कृपासे अपने पुरुपार्थद्वारा इस श्लोकके अनुसार--

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।

(गीता ८ । २४)

भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा क्रमसे अग्रसर होते हुए अन्तमे भगावन्‌के सत्यलोकको पहुँचते हैं । इस लोकमे जानेवाले महात्माओका स्वागत करनेके लिये भगवान्‌के पार्षद (अमानव पुरुष) विमान लेकर सामने आते है और उन्हे वड़े आदर-सत्कारके साथ भगवान्‌के परमधाममे ले जाते हैं। वह धाम प्रलयकालमे नाश नहीं होता, वहाँ किसी प्रकारका दुःख और शोक नही है। एक वार जो उस धाममे पहुँच जाता है उसका फिरसे कर्म-वन्धनयुक्त जन्म नही होता । इसी लोकको सम्भवतः श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठ, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक और

श्रीरामके उपासक साकेत-लोक कहते है। इस लोकमे पहुँचे हुए महात्मागण महाप्रलयपर्यन्त सुखपूर्वक वहाँ निवास कर अन्तमे शुद्धब्रह्ममे शान्त हो जाते है। ऐसे लोगोमेंसे यदि कोई महापुरुष सृष्टिकर्ता भगवानकी प्रेरणासे अथवा अपनी इच्छासे केवल जगत्‌का हित करनेके लिये संसारमे आते है तो वे कारक पुरुष कहलाते है। ऐसे लोगोके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे भी श्रद्धालु पुरुषोका उद्धार हो सकता है। श्रीवसिष्ठजी और वेदव्यासजी महाराज आदि ऐसे ही महापुरुषोंमेंसे थे। इन लोगोका जगत्‌मे प्रकट होना केवल जगत्‌के उद्धारके लिये ही होता है; जिस प्रकार किसी कारागारमे पड़े हुए कैदियोको मुक्त करनेके लिए किसी विशेष अवसरपर राजाके प्रतिनिधि अधिकार लेकर कारागारमे जाते है और वहाँ जाकर बन्धनमे पड़े हुए कैदियोको बन्धनसे मुक्तकर, स्वतन्त्रतासे वापस लौट आते है। जेलमे कैदी भी जाते है और राजाके प्रतिनिधि भी। भेद इतना ही है कि कैदी तो अपने किये दुष्कर्मोका फल भोगनेके लिये परवश होकर जेलके बन्धनमे जाते है और राजाके प्रतिनिधि स्वतन्त्रतासे दयाके कारण बन्धनमे पड़े हुए कैदियोको मुक्त करनेके लिये जेलमे जाते है। इसी प्रकार कारक पुरुष भी ससारमे केवल बन्धनमे पड़े हुए जीवोको मुक्त करनेके लिये ही प्रकट होते है। अवतारमे और कारक पुरुषमे यही अन्तर है कि अवतार तो कभी जीवभावको प्राप्त हुए ही नही और कारक पुरुष किसी कालमे जीवभावको प्राप्त थे, परन्तु भगवत्‌कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा क्रममुक्तिसे वे अन्तमे इस स्थितिको प्राप्त

हो गये। इस समय अवतार और कारक पुरुष तो जगत्मे देखनेमे नही आते, जीवन्मुक्त महात्मा अलबत्ता मिल सकते है।

मुक्ति दो प्रकारकी होती है—सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। जो इसी देहमे अज्ञानसे सर्वथा छूटकर नित्य, सत्य, आनन्द-बोध-स्वरूपमें स्थित हो जाते है, जिनके सारे कर्म ज्ञानाग्नि के द्वारा भस्म हो जाते है और जिनकी दृष्टिमे एक अनन्त और असीम परमात्मसत्ताके सिवा जगत्की भिन्न सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐसे महापुरुष तो जीवन्मुक्त कहलाते है, इसीका नाम सद्योमुक्ति है और जो उपर्युक्त क्रमसे लोकान्तरोमे होते हुए परमधामतक पहुँचते है वे क्रममुक्त कहलाते है। इस मुक्तिके चार भेद है, यथा—सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य और सायुज्य। भगवान्के समीप निवास करनेका नाम सामीप्य है, भगवान्के समान स्वरूप प्राप्त होनेका नाम सारूप्य है। भगवान्के समान लोकमे निवास करनेका नाम सालोक्य है और भगवान्मे मिल जानेका नाम सायुज्य है। जो दास-दासी या माधुर्यभावसे भगवान्की भक्ति करते है उन्हे सामीप्य-मुक्ति, जो मित्रभावसे भजते है उन्हे सारूप्य-मुक्ति और जो वात्सल्यभावसे भजते है उन्हे सालोक्य-मुक्ति तथा जो वैरभावसे या ज्ञानमिश्रता भक्तिसे भगवान्की उपासना करते है उन्हे सायुज्य-मुक्ति प्राप्त होती है।

ऐसे महापुरुष इस समय भी जगत्मे है। जीवन्मुक्त वही होता है जो पहले जीवभावको प्राप्त था, पीछेसे पुरुषार्थके द्वारा मुक्त हो गया। जैसे श्रीशुकदेवजी और राजा जनकादि।

जीवोमे पहली श्रेणीमे तो कुछ ऐसे महापुरुप है कि जो जीवभावमे मुक्त हो चुके हैं। दूसरे लोग इस समय मिल सकते हैं कि जो दैवी सम्पत्तिका आश्रय लिये हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित है और मुक्तिके वहुत समीप पहुँच चुके है, सम्भव है कि उनकी इसी जन्ममे मुक्ति हो जाय या किसीको एक जन्म और भी धारण करना पड़े। ऐसे पुरुप भी जीवन्मुक्तोंकी भाँति काम-क्रोध और शौक-हर्षके अधीन प्रायः नही होते।

प्रश्न – प्राचीन कालमे ऋपियोके और महात्माओके हर्ष-शोक हुए है ऐसे लेख ग्रन्थोमे मिलते है इसका क्या कारण है ?

उत्तर – जिनको राग-द्वेपके कारण हर्ष-शोकका विकार होता है, वे तो जीवन्मुक्त नही समझे जा सकते, परन्तु यदि कर्तव्यवश लोकमर्यादाके लिये किसी-किसी अंशमें महात्माओंमें हर्प-शोकका व्यवहार दीखता है तो कोई हानि नहीं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने तो सीताके हरण हो जानेपर और लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर वड़ा विलाप किया था; वह भी ऐसे शब्दोमें और ऐसे भावमे कि जिसे देख-सुनकर बड़े-वडे लोगोको मोह-सा होने लगा था, किन्तु वह केवल भगवान्का व्यवहार था और उसमे तो एक विलक्षण वात और भी थी। भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजी और लक्ष्मणके लिये व्याकुलतासे विलापकर जगत्को महान् प्रेमकी और अपने मृदु स्वभावकी वडी भारी शिक्षा दी थी। भगवान्ने श्रीगीताजीमे अपना यह स्वभाव वतलाया है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४।११)

'जो मेरेको जैसे भजते है मै भी उनको वैसे ही भजता हूँ ?' इसीके अनुसार भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजीके लिये विलाप करते हुए वृक्षों, शाखाओ और पत्तोसे समाचार पूछ-पूछकर यह सिद्ध कर दिया कि जिस तरहसे इस समय रावणके हाथोमे पडी हुई सीता, रामके प्रेममे निमग्न होकर 'राम-राम' पुकार रही है उसी प्रकार राम भी सीताके प्रेम-बन्धनमे बँधकर प्रेमसे विह्वल हो 'सीता-सीता' पुकार रहे है । इसी प्रकार लक्ष्मणके लिये विलाप कर भगवान् श्रीरामने यह सिद्ध कर दिया कि रामके लिये लक्ष्मण जिस प्रकार व्याकुल हो सकता है, उसी प्रकार राम भी आज लक्ष्मणके लिये व्याकुल है । इससे हमलोगोको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हम भगवान्को जिस प्रकार भजेंगे भगवान् भी हमे उसी प्रकार भजनेके लिये तैयार है । यह तो भगवान्की बात हुई, पर ऋषि-महात्माओमे भी लोक-व्यवहारमे हर्ष-शोकका-सा भाव हो सकता है ।

जीवन्मुक्त और मुक्तिके समीप पहुँचे हुए लोगोंकी बात तो हुई । अब ससारमे ऐसे पुण्यात्मा सकाम योगी भी है कि जो—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण. षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

(गीता ८ । २५)

इस श्लोकके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा अग्रसर होते हुए चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमे अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस लौट आते है ।

पूर्वकालमे ऐसे योगी भी हुआ करते थे कि जिनको आठों प्रकारकी अथवा उनमेसे कोई-कोई-सी सिद्धियाँ प्राप्त रहती थी, वर्तमान कालमे यह विद्या लुप्तप्राय हो चुकी है ! वास्तवमे केवल सिद्धियोकी प्राप्तिसे परम कल्याण भी नहीं होता । सिद्धियोसे सांसारिक सुख मिल सकते है परन्तु मोक्ष नही मिलता, इसीलिये शास्त्रकारोने इन सिद्धियोको मोक्षका बाधक और जागतिक सुखोंका साधक माना है । सिद्धियोको प्राप्त करनेवाले योगी प्रायः सिद्धियोमें ही रह जाते है, परन्तु ऊपर कहे हुए मुक्तिके मार्गमे स्थित योगी तो मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते है, इसीलिये उनका दर्जा इनसे ऊँचा है ।

प्रश्न—आठ सिद्धियाँ कौन-सी है, कैसे प्राप्त होती है और उनसे क्या-क्या काम होते है ?

उत्तर—सिद्धियोके नाम अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व है । इनकी प्राप्ति अष्टाङ्गयोगके साधनसे होती है और इन सिद्धियोसे इस प्रकार कार्य हो सकते है—

अणिमा—अपने स्वरूपको अणुके समान बना लेना, जैसे श्रीहनुमानजी महाराजने लङ्कामे प्रवेश करनेके समय बनाया था ।

गरिमा—शरीरको भारी-वजनदार बना लेना, जैसे कर्णके बाण चलानेपर अर्जुनको बचानेके लिये सारथिरूपसे रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने बनाया था और अपने भारसे घोड़ोसमेत रथको जमीन पर बैठा दिया था ।

महिमा—शरीरको महान् विशाल बना लेना, जैसे भगवान् श्रीवामनजीने बनाया था ।

लघिमा—शरीरको अत्यन्त हल्का बना लेना ।

प्राप्ति—इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, जैसे भरद्वाज मुनिने भरतजीके आतिथ्यके समय किया था ।

प्राकाम्य—कामनाके अनुसार कार्य हो जाना ।

ईशित्व—ईश्वरके समान सृष्टि-रचना करनेका सामर्थ्य हो जाना ।

वशित्व—अपने प्रभावसे चाहे जिसको अपने वशमे कर लेना ।

ये आठ सिद्धियाँ है, आजकल इन सिद्धियोको प्राप्त किये हुए पुरुष देखनेमे नही आते । सत्य-भाषणसे वाणीका सत्य हो जाना आदि उपसिद्धियोको प्राप्त हुए पुरुष तो कही-कही मिल सकते है।

प्रश्न—क्या सत्य बोलनेवालेकी वाणीसे निकले हुए सभी शब्द सत्य हो जाते है ?

उत्तर—अवश्य हो जाते है, उपनिषद् और पुराणादिमे इसके अनेक प्रमाण है जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमे ऐसा हुआ करता था । छोटे-से ऋषिकुमारने राजा परीक्षित्‌को शाप दिया था, तो उसीके अनुसार ठीक समयपर सॉपने आकर परीक्षित्‌को डस दिया । जब राजा नहुपने इन्द्रपदपर आरुढ होकर ऋषियोको अपनी पालकीमे जोता और कामान्ध होकर इन्द्राणीके पास जाने लगा तथा 'शीघ्र सर्प' कहकर ऋषिको ठुकराया था, तब ऋषिने कहा था कि तुम सर्प हो जाओ, तदनुसार वह तुरत सॉप हो गया । प्रार्थना करनेपर फिर उसीको यह वरदान दिया कि 'द्वापरयुगमे भीम को पकडनेपर महाराज युधिष्ठरसे तुम्हारी भेट होगी तब तुम्हारा उद्धार

होगा' यह वचन भी सत्य हुआ। अतएव यह सिद्ध होता है कि सत्यवादीके मुखसे निकला हुआ प्रत्येक शब्द सत्य होता है। हाँ, यदि कोई सत्यवादी कभी जान-बूझकर असत्य बोले तो उतने शब्द सत्य नही होते, जैसे महाराज युधिष्ठिरने जान-बूझकर अश्वत्थामाके मरनेकी सन्दिग्ध वात कही थी, तब अश्वत्थामा नही मरा; परन्तु यदि कोई केवल सत्य ही बोले तो उसकी वाणीके सत्य होनेमें कोई सन्देह नही।

आजकल कुछ ऐसे पुरुष भी मिल सकते है कि जिन लोगोने मन और इन्द्रियोको प्राय: वशमे कर लिया है, जिनको महीनोंतक स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोते रहनेपर भी कामोद्रेक नही होता, भोजनकी चाहे जैसी सामग्री सामने होनेपर भी मन नही चलता, क्रोध और शोकके बड़े भारी कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध और शोक नही होता। परन्तु ऐसा कोई महापुरुष मेरे देखनेमे नही आया कि जिसके दर्शन, स्पर्श, भाषण या चिन्तनसे ही उद्धार हो जाय, जैसे श्रीनारदजी महाराजके दर्शन और उपदेशसे लाखो ही प्राणियोका उद्धार हो गया, श्रीशुकदेवजीके उपदेशसे लाखोका कल्याण हुआ, जीवनमुक्त आचार्योंके चिन्तनसे अनेक शिष्योका उद्धार हुआ और बगालके श्रीचैतन्यमहाप्रभुके दर्शन, स्पर्श और उपदेशसे हजारोका कल्याण हुआ। इतना अवश्य कह सकता हूँ कि यदि मनुष्य चाहे तो ऐसा बन सकता है कि उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे ही लोगोका उद्धार हो जाय।

————

कल्याणका तत्त्व

सब प्रकारके दु.खोंसे, विकारोंसे, गुणों और कर्मोसे सदाके लिए मुक्त होकर परम विज्ञान आनन्दमय कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेना ही परम कल्याण है। इसीको कोई मुक्ति, कोई परमपदकी प्राप्ति, कोई निर्वाणपदकी प्राप्ति और कोई मोक्ष कहते है। इस स्थितिको प्राप्त करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। श्रीभगवान्ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'मेरी शरण होनेवाले स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि (अन्त्यजादि) कोई भी हो (सब) परम गतिको प्राप्त होते है।' अतएव जो मनुष्य परमात्माके भजन-ध्यान द्वारा इस प्रकार ससारसे मुक्त होकर परम पदको पा जाता है उसीका मानव-जीवन कृतार्थ होता है।

इस विषयमे लोग भिन्न-भिन्न प्रकारकी भ्रमात्मक वाते किया करते है जिनमेसे मुख्य ये तीन है—

१—'वर्तमान देश-कालमे या इस भूमिपर मुक्ति सम्भव नही है; एव गृहस्थ और नीचे वर्णोंमे मुक्ति नही होती।'

२—'मुक्त पुरुष दीर्घकालपर्यन्त मुक्तिका सुख भोगनेके वाद पुन. संसारमे जन्म लेते है।

३-'मुक्ति ज्ञानसे होती है। काम, क्रोध, असत्य, चोरी और व्यभिचारादि विकारोंके रहते भी ज्ञान हो जानेपर मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है। उपर्युक्त विकार तो अन्त:करणके धर्म हैं, जबतक अन्त:करण है तबतक प्रारब्धानुसार इन विकारोंका रहना भी अनिवार्य है।'

ये तीनों ही विकार वास्तवमे न तो सत्य है और न लाभप्रद तथा युक्तियुक्त ही हैं, वर इनके माननेसे बड़ी हानि होती है तथा लोगोंमें भ्रम फैलता है, इसलिये यहाँ पर इसी विषयपर क्रमश: विचार किया जाता है।

१-मुक्तिका कारण आत्मज्ञान है और उस आत्मसाक्षात्कारके लिये निष्काम कर्मयोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोगादि प्रत्येक देश-कालमे सुसाध्य उपाय वेद-शास्त्रोमे बतलाये गये है।

कोई खास युग, देश, वर्ण या आश्रममात्र ही मुक्तिका कारण नहीं माना गया है। साधनसम्पन्न होनेपर प्रत्येक देश-कालमे और प्रत्येक वर्ण-आश्रममे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। गीताके उपर्युक्त श्लोकसे भी यही निर्णीत है। मुक्तिके लिये श्रुति-स्मृतियोंमे कहीं भी कलियुग, भारतभूमि या किसी वर्णाश्रमका निषेध नहीं किया गया है। आजतक के सत-महात्माओंके जीवन-चरित्रोंसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक देश, भूमि, वर्ण और आश्रममे साधन करनेपर मुक्ति हो सकती है। विष्णुपुराणमे एक प्रसग है-

'ऐसा कौन सा समय है कि जिसमे धर्मका थोड़ा-सा अनुष्ठान भी महत् फल देता हो?' इस विषयपर एक बार ऋषियोंमे बड़ी

वहस हुई, अन्तमे वे सब मिलकर इस प्रश्नका निर्णयात्मक उत्तर पानेके लिये भगवान् वेदव्यासके पास गये। व्यासजी महाराज उस समय भगवती भागीरथीमे स्नान कर रहे थे, ऋषिगण उनकी प्रतीक्षामे जाह्नवीके तटपर वृक्षोकी छायामे बैठ गये। थोडी देरके वाद व्यासजीने वाहर निकलकर मुनियोंको सुनाते हुए क्रमशः ऐसा कहा 'कलियुग ही साधु है' 'हे शूद्र ! तुम्ही साधु हो, तुम्ही धन्य हो।' 'हे स्त्रियो ! तुम धन्य हो, तुमसे अधिक धन्य और कौन है ?' इससे मुनियोको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होने कौतूहलसे व्यासजीसे इन वचनोका मर्म पूछा। व्यासदेवने कहा कि यही तुम्हारे विवादग्रस्त प्रश्नका उत्तर है। इन तीनोमे मनुष्य अल्पायाससे ही परमगति पा सकता है। दूसरे युगोमे, दूसरे वर्णोमे और पुरुषोमे तो वडे साधनसे कही कुछ होता है, परन्तु—

स्वल्पेनैव प्रयत्नेन धर्मः सिद्ध्यति वै कलौ।
नरैरात्मगुणाम्भोभिः क्षालिताखिलकिल्बिषैः॥
शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैर्मुनिसत्तमाः।
तथा स्त्रीभिरनायासं पतिशुश्रूषयैव हि॥
ततस्त्रितयमप्येतन्मम धन्यतमं मतम्।

(विष्णुपुराण ६। २। ३४–३६)

'हे मुनिगण ! कलियुगमे मनुष्य सद्वृत्तिका अवलम्बन करके थोड़े-से प्रयाससे ही सारे पापोसे छूटकर धर्म की सिद्धि पाता है। शूद्र द्विज-सेवासे और स्त्रियाँ केवल पतिसेवासे अल्पायाससे ही

उत्तम गति पा सकती है। इसलिये मैंने इन तीनोंको धन्यतम कहा है।' इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान देश-कालमे और स्त्री, शूद्रोके लिये तो मुक्तिका पथ और भी सुगम है।

थोड़ी देरके लिये यदि यह भी मान ले कि वर्तमान देश-कालमे और प्रत्येक वर्णाश्रममे मुक्ति नही होती, लोग भूलसे ही उत्साह-पूर्वक मुक्तिके लिये साधनमे लगे हुए है तथापि यह तो नही माना जा सकता कि इस भूलसे वे कोई अपना नुकसान कर रहे है। मुक्ति न सही, परन्तु साधनका कुछ-न-कुछ तो उत्तम फल अवश्य ही होगा। सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी, अन्त.करणकी शुद्धि होगी और दैवी सम्पत्तिके गुणोका विकास होगा। जब मुक्ति होती ही नही तब वह तो साधक और असाधक दोनोकी ही नही होगी, परन्तु साधकमे साधनसे सद्‌गुणो की वृद्धि होगी और साधनहीन मनुष्य कोरा-का-कोरा ही रह जायगा। इसके अतिरिक्त यदि वर्तमान देश-कालमे प्रत्येक मनुष्यकी मुक्ति होती होगी तो साधककी तो हो ही जायगी; परन्तु साधन न करनेवाला सर्वथा वञ्चित रह जायगा। जब वह साधनमे प्रवृत्त ही नही होगा तब मुक्ति कैसी ? अतएव वह बेचारा भ्रमसे इस परम लाभसे वञ्चित रहकर बारबार ससारके आवागमन-चक्रमे घूमता रहेगा। अतएव इस युक्तिसे भी प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममे मुक्तिका सुगम मानना ही उचित श्रेयस्कर और तर्कसिद्ध है।

२—श्रुति, स्मृति और उपनिषदादि सद्‌ग्रन्थोमे कहींपर भी मुक्त पुरुषोके पुनरागमन-सम्बन्धी प्रमाण नही मिलते। पुनरागमन

उन्हींका होता है जो सकामी पुण्यात्मा पुरुष अपने पुण्यबलसे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

(गीता ९ । २०-२१)

मुक्त पुरुषके सम्बन्धमे तो श्रुति-स्मृतियोमें स्थान-स्थानपर उनके पुनः संसारमे न आनेके ही प्रमाण मिलते है। श्रीभगवान्‌ने गीतामे कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(८ । १६)

'हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव-वाले है, परन्तु हे कौन्तेय! मुझको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नही होता ।'

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'

(छान्दो० ८ । १५ । १)

'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'

(छान्दो० ४ । १५ । ६७)

'तेषामिह न पुनरावृत्तिः'

(वृह० ६। २। १५)

—आदि श्रुतियाँ प्रसिद्ध है। इन शास्त्र-वचनोसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मुक्त जीवोका पुनरागमन कभी नही होता। जीवन्मुक्तोके द्वारा लोकदृष्टिमे यथायोग्य सभी कार्य होते हुए प्रतीत होते है, परतु वास्तवमे उनका उन कार्योसे कुछ भी सम्बन्ध नही रहता——

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमॉल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

इसके सिवा उस मुक्त पुरुपकी दृष्टिमे एक विशुद्ध विज्ञान आनन्दघन परमात्म-तत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही रह जाता—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वसुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

वह समझता है कि सभी कुछ केवल वासुदेव ही है। इसीलिये उसे मुक्त कहते है। ऐसे पुरुपका किसी कालमे भी इस मायामय ससारसे पुन. सम्बन्ध नही होता, क्योकि उसकी दृष्टिमे ससार का सदाके लिये आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इस अवस्थामे उसका पुनरागमन क्योकर हो सकता है?

यदि कोई यह कुतर्क करे कि यदि मुक्त जीवोका पुनरागमन नही होगा तो मुक्त होते-होते एक दिन जगत्के सभी जीव मुक्त हो

जायँगे तब तो सृष्टिकी सत्ता ही मिट जायगी। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो ऐसा होना सम्भव नही, क्योकि–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत ॥

(गीता ७। ३)

'हजारो मनुष्योमे कोई मनुष्य मोक्षके लिये यत्न करता है, उन यत्न करनेवाले योगियोमेसे कोई पुरुष मुझको (परमात्माको) तत्त्वसे जानता है।' इस अवस्थामे सभी जीवोका मुक्त होना असम्भव है, क्योकि जीव असख्य है। तथापि यदि किसी दिन 'सम्पूर्ण ससारके सभी जीव किसी तरह मुक्त हो जायँ' तो इसमे हानि ही कौन-सी है ? आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं, महात्मागण अब भी कर रहे है और आगे भी करते रहेगे। यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्के जीवोका उद्धार हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमे कौन-सी बाधा आती है ?

तर्कके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते है, पर इस भूलसे उनकी हानि क्या होती है ? इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आवेगा और न माननेवाला भी। फल दोनोका एक ही है। परतु कदाचित् यही सिद्धान्त सत्य हो कि 'मुक्त पुरुषका पुनरागमन नही होता' तब तो भूलसे पुनरागमन माननेवालेकी बड़ी हानि होगी; क्योकि उस पुनरागमन माननेवालेको तो वह मुक्ति ही नहीं मिलेगी कि जिसमे पुनरागमन

न होता हो। वह बेचारा भूलसे ही इस परम लाभसे वञ्चित रह जायगा और पुनरागमन न माननेवाला मुक्त हो जायगा। इस न्यायसे भी पुनरागमन न मानना ही युक्तियुक्त, लाभजनक और सर्वोत्तम सिद्ध होता है।

३—श्रुति-स्मृति और उपनिषदादि किसी भी प्रामाणिक सद्-ग्रन्थसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काम-क्रोधादि विकारोंके रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है। श्रीमद्भागवद्गीतामें तो स्पष्ट शब्दोंमें काम, क्रोध और लोभको नरकका त्रिविध द्वार बतलाया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

श्रीगीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रश्नोत्तरसे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि समस्त पापोंका बीज 'काम' है और उसको आत्मज्ञानके द्वारा नष्ट करके ही साधक मुक्त हो सकता है। तीसरे अध्यायके ३६वें श्लोकसे ४३वें श्लोकपर्यन्त इसका विस्तारसे वर्णन है। जहाँतक काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकारोंसे ही मनुष्यका छुटकारा नहीं होगा, वहाँतक उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है? मुक्त पुरुषका वास्तवमें संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। गीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(३। १७-१८)

उसका अन्तःकरण मल-विक्षेप और आवरणसे सर्वथा रहित होकर शुद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकार उसमे कैसे रह सकते है ? भगवान्‌ने कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

(गीता ५ । २५-२६)

'हर्षशोकौ जहाति' 'तरति शोकमात्मवित्' आदि श्रुतियाँ भी इसके प्रमाणमे प्रसिद्ध हैं। शास्त्रो मे जहाँ देखिये वहीं एक-स्वरसे यही प्रमाण मिलता है। श्रीपरमात्माका साक्षात्कार हो जाने पर जब समस्त विकारोकी जड आसक्तिका ही अत्यन्त अभाव हो जाता है तव उसके कार्यरूप अन्य विकार तो कैसे रह सकते है ? इन शास्त्रवचनोसे यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्तके शुद्ध अन्तः-करणमे विकारोका अस्तित्व मानना कदापि उचित नही है।

यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि जीवन्मुक्तके वाद भी काम-क्रोधादि विकारोका लेश शेष रह जाता है और जो लोग उसका शेष रहना नही मानते, वे भूलसे ही काम-क्रोधादि विकारोको जड़-से उखाडनेकी धुनमे लगे रहते हैं, इसपर यह सोचना चाहिए कि क्या इस भूलसे उसका कोई नुकसान होता है ? यदि पक्षपात छोडकर विचार किया जाय तो पता लगता है कि काम-क्रोधादि विकारोके नाशका उपाय न करनेवालोकी अपेक्षा उपाय करनेवाले

अधिक बुद्धिमान् है; क्योंकि उपाय करनेसे उनके विकार अधिक नष्ट होगे और इससे वे कम-से-कम जीवन्मुक्तोंमें तो उत्तम ही माने जायँगे। एक मनुष्य अत्यन्त क्रोधी तथा कामी है और दूसरा इन दोनोसे से छूटा हुआ है और इस सिद्धान्तके अनुसार वे दोनो ही जीवन्मुक्त हैं। इस दशामे यह तो स्वाभाविक है कि इनमे काम-क्रोधपरायण मनुष्यकी अपेक्षा काम-क्रोधरहित जीवन्मुक्त ही अधिक सम्माननीय होगा। इस दृष्टिसे भी काम-क्रोधादि विकारोंका नाश करना ही उचित सिद्ध होता है और यदि कही यही बात सत्य हो कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमे कोई विकार शेष नही रहता तब तो विकारोका शेष रहना माननेवालेकी केवल मुक्ति नही होगी सो ही बात नही परन्तु उसकी और भी बड़ी हानि होगी, क्योकि वह मिथ्या ज्ञानसे (गीता १८।२२ के अनुसार) ही अपनेको ज्ञानी और मुक्त मानकर अपने चरित्र-सुधारके पवित्र कार्यसे भी वञ्चित रह जायगा और काम-क्रोधादि विकारोंके मोहमय जालोंमे फँसकर अनेक प्रकारकी नरक-यन्त्रणा भोगता हुआ (गीता अध्याय १६ के श्लोक १६ से २० के अनुसार) लगातार ससार-चक्रमे भटकता फिरेगा। इसलिये यही सिद्धान्त सर्वोपरि मानना चाहिए कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि कोई भी विकार शेष नही रह जाते।

इसके सिवा मुक्तिके सम्बन्धमे लोग और भी अनेक प्रकारकी शकाएँ किया करते है, पर लेख बढ जानेके कारण उन सबपर विचार नही किया गया।

इस लेखसे पाठक समझ गये होगे कि मुक्त पुरुष तीनो गुणोंसे सर्वथा अतीत होता है.(गीता अध्याय १८ के १९वे और २२वे-से २५वे श्लोकतक इसका वर्णन है), इसीसे उसके अन्त.करणमे कोई विकार या कोई भी कर्म शेष नही रहता और इसीलिये उसका पुनर्जन्म भी नही होता। पुनर्जन्मका हेतु गुणोका सङ्ग ही है। भगवान् कहते है--

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३। २१)

पाठक यह भी समझ गये होगे कि वर्तमान देश-कालमे मुक्त होना कोई असम्भव वात नहीं है अतएव अव शीघ्र सावधान होकर कर्तव्यमें लग जाना चाहिये। आलस्यमे अबतक वहुत समय नष्ट हो चुका। अब तो सचेत होना चाहिये। मनुष्य-जीवनके एक भी अमूल्य क्षणको व्यर्थमे गँवाना उचित नही। गया हुआ समय किसी भी उपायसे वापस नही मिल सकता। अतएव यथासाध्य शीघ्र ही सत्सङ्गके द्वारा अपने कल्याणका मार्ग समझकर उसपर आरूढ़ हो जाना चाहिये।

——यही कल्याणका तत्त्व है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(कठ० १। ३। १४)

कल्याण—प्राप्तिके उपाय

कल्याण मुक्तिको कहते है, यह शब्द परमपद या परमगतिका वाचक है। कल्याणको प्राप्त करनेके प्रधान उपाय तीन है—निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग अर्थात् साख्ययोग और भक्तियोग अर्थात् ध्यानयोग। इसमे भक्तिका साधन स्वतन्त्र भी किया जा सकता है और निष्काम कर्मयोग एव सांख्ययोगके साथ भी।

निष्काम कर्मयोगका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके ३९वे श्लोकसे ५३वे श्लोकतक है और निष्काम कर्मयोग-द्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए पुरुषोके लक्षण इसी अध्यायके ५४वे से ७२वे श्लोकतक वर्णित है।

ज्ञानयोगका विस्तारसे वर्णन द्वितीय अध्यायके ११वे से ३०वे श्लोकतक है और उसीके अनुसार तृतीय अध्याय के २८वे, पञ्चम अध्यायके ८वे और ९वें तथा चतुर्दश अध्यायके १९वें श्लोकमें ज्ञानयोगीके कर्म करनेकी विधि बतलायी है। इसके अतिरिक्तपञ्चम अध्यायके १३वे से २६वें श्लोकतक ज्ञान और अष्टादश अध्यायके ४९वेसे ५५वे श्लोकतक उपासनासहित ज्ञानयोगका वर्णन है। पञ्चम अध्यायके २७वे से २९वे; षष्ठ अध्यायके ११वे से ३२वे, अष्टम अध्यायके ५वे से २२वे, नवम अध्यायके ३०वे से ३४वे,

दशम अध्यायके ८वेंसे १२वें; एकादश अध्यायके ३५वेंसे ५५वें और द्वादश अध्यायके २रेसे ८वें श्लोकतक ध्यानयोग या भक्तियोग-का वर्णन है, वास्तवमे ध्यानयोग और भक्तियोग एक ही वस्तु है। इसी प्रकार श्रीगीताजीके अन्यान्य स्थलोमें भी तीनों साधनोका भिन्न-भिन्न रूपसे वर्णन है, इन सबमे वर्तमान समयके लिये कल्याणकी प्राप्तिका सबसे सुगम और उत्तम उपाय भक्तिसहित निष्काम कर्म-योग है। इसका बड़ा सुन्दर उपदेश श्रीगीताजीके अष्टादश अध्याय-के निम्नलिखित ११ श्लोकोमें है--

भगवान् श्रीकृष्ण महाराज कहते है--

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है । अतएव हे अर्जुन ! तू सब कर्मोको मनसे मेरे-मे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्म-योगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमे चित्तवाला हो ।'

'इस प्रकार तू मेरेमे निरन्तर मनवाला हुआ मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि सब सकटोसे अनायास ही तर जायगा और यदि अहकारके कारण मेरे वचनोको नही सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ।'

'जो तू अहकारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नही करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि क्षत्रिय-पनका स्वभाव तेरेको जबरदस्ती युद्ध मे लगा देगा ।'

'हे अर्जुन ! जिस कर्मको तू मोहसे नही करना चाहता है उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा ।'

'क्योंकि हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमे आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमे स्थित है, अतएव हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे परम शान्तिको एवं सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

'इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है, इस रहस्ययुक्त ज्ञानको सम्पूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके फिर तू जैसे चाहता है वैसे ही कर यानी जैसी तेरी इच्छा हो वैसे ही कर ।'

'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है । इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा ।'

'हे अर्जुन ! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख,चक्र,गदा, पद्म और किरीट,कुण्डल आदि भूषणोसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन,वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति,बल,ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता,

वात्सल्य और सौहार्द आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्वत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूं; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

'अतएव सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो; मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्तकर दूंगा, तू शोक मत कर।'

कैसा दिव्य उपदेश है। इसके सिवा ध्यानयोग और भक्ति-योग-सम्बन्धी ग्रन्थोंमे पातञ्जलयोगदर्शन ध्यानयोगका और नारदसूत्र तथा शाण्डिल्य-सूत्र भक्तियोगके प्रधान ग्रन्थ है। अवश्य ही इनमे कुछ मतभेद है; परन्तु इन ग्रन्थोंमे भक्तियोगका ही प्रतिपादन है। इन ग्रन्थोंको मनन करनेसे भक्तियोगका वहुत कुछ पता लग सकता है।

वहुत विस्तारसे न लिखकर मैंने श्रीगीताजीके कुछ श्लोकोंको उद्धृत कर तथा कुछकी केवल संख्या ही वतलाकर पाठकोंसे सङ्केतमात्र कर दिया है। यदि कोई सज्जन इन श्लोकोंके अर्थका मनन कर उसके अनुसार चलना आरम्भ कर दे तो मेरी सम्मतिमें उनको परम कल्याण—मोक्षकी प्राप्ति वहुत ही सुगमतासे हो सकती है।
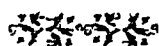
भगवान् क्या है ?

भगवान् क्या है ? इस सम्बन्धमे मै जो कुछ कहना चाहता हू वह मेरे अपने निश्चयकी बात है, हो सकता है कि मेरा निश्चय ठीक न हो, मै यह नही कहता कि दूसरोका निश्चय ठीक नही है, परन्तु मुझे अपने निश्चयमे कोई सन्देह नही है। मैं इस विषयमें संशयात्मा नही हू तथापि दूसरोके निश्चयको गलत बतानेका मुझे कोई अधिकार नही है।

भगवान् क्या है ? इन शब्दोका वास्तविक उत्तर तो यही है कि इस बातको भगवान् ही जानते है। इसके सिवा भगवान्के विषयमे उन्हे तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी पुरुप उनके तटस्थ अर्थात् नजदीकका कुछ भाव बतला सकता है। वास्तवमे तो भगवान्के स्वरूपको भगवान् ही जानते है, तत्त्वज्ञ लोग सकेतके रूपमें भगवान्के स्वरूपका कुछ वर्णन कर सकते है; परन्तु जो कुछ जानने और वर्णन करनेमे आता है, वास्तवमे भगवान् उससे और भी विलक्षण है। वेद, शास्त्र और मुनि, महात्मा परमात्माके सम्बन्धमे सदासे कहते ही आ रहे है, किन्तु उनका वह कहना आजतक पूरा नही हुआ। अबतकके उनके सब वचनोको मिलाकर या अलग-अलग कर, कोई परमात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन

करना चाहे, तो उसके द्वारा भी पूरा वर्णन नही हो सकता। अधूरा ही रह जाता है। इस विवेचनमे यह तो निश्चय हो गया कि भगवान् है अवश्य; उनके होनेमे रत्तीभर भी शंका नहीं है, यह दृढ़ निश्चय है। अतएव जो आदमी भगवान्‌को अपने मनसे जैसा समझकर साधन कर रहे है, उसमे परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नही, परन्तु सुधार कर लेना चाहिये। वास्तवमे साधन करनेवालोमे कोई भी भूलमे नही है या एक तरहसे सभी भूलमे है। जो परमात्माके लिये साधन करता है, वह उसीके मार्गपर चलता है, इसलिये कोई भूलमे नही है और भूलमे इसलिये है कि जिस किसी एक वस्तुको साध्य या ध्येय मानकर वे उसकी प्राप्तिका साधन करते है, उनके उस साध्य या ध्येयसे वास्तविक परमात्माका स्वरूप अत्यन्त ही विलक्षण है जो जानने, मानने और साधन करनेमे आता है वह तो ध्येय परमात्माको वतानेवाला साङ्केतिक लक्ष्य है। इसलिये जहाँतक उस ध्येयकी प्राप्ति नही होती, वहाँ-तक सभी भूलमे है ऐसा कहा गया है। परन्तु इससे यह नही मानना चाहिये कि पहले भूलको ठीक करके फिर साधन करेंगे। ठीक तो कोई कर ही नहीं सकता, यथार्थ प्राप्तिके बाद आप ही ठीक हो जाता है। इससे पहले जो होता है, सो अनुमान होता है, और उस अनुमानसे जो कुछ किया जाता है वही उसकी प्राप्तिका ठीक उपाय है। जैसे एक आदमी द्वितीयाके चन्द्रमाको देख चुका है, वह दूसरे न देखनेवालोको इशारेसे वतलाता है कि तू मेरी नजरमे देख, उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा चन्द्रमा है। इस कथनसे

उसका लक्ष्य वृक्षकी ओरसे होकर चन्द्रमातक चला जाता है और वह चन्द्रमाको देख लेता है। वास्तवमे न तो वह उसकी आँखमे घुसकर ही देखता है और न चन्द्रमा उस वृक्षसे चार अगुल ऊँचा ही है और न चन्द्रमण्डल जितना छोटा वह देखता है उतना छोटा ही है। परन्तु लक्ष्य बँध जानेसे वह उसे देख लेता है। कोई-कोई द्वितीयाके चन्द्रमा का लक्ष्य करानेके लिये सरपतसे बतलाते है, कोई इससे भी अधिक लक्ष्य करनेके लिये चूनेसे लकीर खींचकर या चित्र बनाकर उसे दिखाते है, परन्तु वास्तवमें चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपसे इनकी कुछ भी समता नही है। न तो इनमे चन्द्रमाका प्रकाश ही है, न यह उतने बड़े ही है और न इनमे चन्द्रमाके अन्य गुण ही है। इसी प्रकार लक्ष्यके द्वारा देखनेपर भगवान् देखे या जाने जा सकते हैं। वास्तवमे लक्ष्य और उनके असली स्वरूपमें वैसा ही अन्तर है कि जैसा चन्द्रमा और उसके लक्ष्यमे। चन्द्रमाका स्वरूप तो शायद कोई योगी बता भी सकता है, परन्तु भगवान्का स्वरूप कोई भी बता नही सकता; क्योंकि यह वाणीका विषय नही है। वह तो जब प्राप्त होगा, तभी मालूम होगा। जिसको प्राप्त होगा वह भी उसे समझा नही सकेगा। यह तो असली स्वरूपकी बात हुई। अब यह बतलाना है कि साधकके लिये यह ध्येय या लक्ष्य किस प्रकारका होना चाहिये और वह किस प्रकार समझा जा सकता है। इस विषयमे महात्माओंसे सुनकर और शास्त्रोंको सुन और देखकर, मेरे अनुभवमे जो बाते निश्चयात्मकरूपसे जँची है, वही बतलायी जाती है। किसीकी इच्छा हो तो [illegible]मे ला सकता है!

परमात्माके असली स्वरूपका ध्यान तो वास्तवमें बन नहीं सकता। जबतक नेत्रोंसे, मनसे और बुद्धि से परमात्माके स्वरूपका अनुभव न हो जाय, जबतक जो ध्यान किया जाता है, वह अनुमानसे ही होता है। महात्माओंके द्वारा सुनकर, शास्त्रोमे पढ़कर, चित्रादि देखकर साधन करनेसे साधकको परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। पहले यह बात कही जा चुकी है कि जो परमात्माका जिस प्रकार ध्यान कर रहे हैं, वे वैसा ही करते रहे, परिवर्तनकी आवश्यकता नही। कुछ सुधारकी आवश्यकता अवश्य है।

ध्यान कैसे करना चाहिये !

कुछ लोग निराकार शुद्ध ब्रह्मका ध्यान करते है; कुछ साकार दो भुजावाले और कुछ चतुर्भुजधारी भगवान् विष्णुका ध्यान करते है, वास्तवमे भगवान् विष्णु, राम और कृष्ण जैसे एक है, वैसे ही देवी, शिव, गणेश और सूर्य भी उनसे कोई भिन्न नही। ऐसा अनुमान होता है कि लोगोकी भिन्न-भिन्न धारणाके अनुसार एक ही परमात्माका निरूपण करनेके लिये,श्रीवेदव्यासजीने अठारह पुराणो-की रचना की है, जिस देवके नामसे जो पुराण बना, उसमे उसीको सर्वोपरि, सृष्टिकर्ता, सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर बतलाया गया। वास्तवमे नाम-रूपके भेदसे सबमे उस एक ही परमात्माकी बात कही गयी है। नाम-रूपकी भावना साधक अपने इच्छानुसार कर सकते है, यदि कोई एक स्तम्भको ही परमात्मा मानकर उसका ध्यान करे तो वह भी परमात्माका ही ध्यान होता है. अवश्य ही लक्ष्यमे ईश्वरका पूर्ण भाव होना चाहिये।

साकार और निराकारके ध्य.नमे साकारकी अपेक्षा निराकार-का ध्यान कुछ कठिन है, फल दोनोका एक ही है, केवल साधनमे भेद है। अतएव अपनी-अपनी प्रीतिके अनुसार साधक निराकार या साकारका ध्यान कर सकते है।

निराकारके उपासक साकारके भावको साथमे न रखकर केवल निराकारका ही ध्यान करे, तो भी कोई आपत्ति नही, परन्तु साकारका तत्त्व समझकर परमात्माको सर्वदेशी, विश्वरूप मानते हुए निराकारका ध्यान करे तो फल शीघ्र होता है। साकारका तत्त्व न समझनेसे कुछ विलम्बसे सफलता होती है।

साकारके उपासकको निराकार, व्यापक ब्रह्मका तत्त्व जाननेकी आवश्यकता है, इसीसे वह सुगमतापूर्वक शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। भगवान्ने गीतामे प्रभाव समझकर ध्यान करनेकी ही बड़ाई की है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

'हे अर्जुन! मेरेमे मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन,ध्यान-मे लगे हुए* जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते है, वे मेरेको योगियोमे भी अति उत्तम योगी मान्य है अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

---

* अर्थात् गीता अध्याय ११। ५५ मे बताये हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमे लगे हुए।

वास्तवमे निराकारके प्रभावको जानकर जो साकारका ध्यान किया जाता है, वही भगवान्‌की शीघ्र प्राप्तिके लिये उत्तम और सुलभ साधन है। परतु परमात्माका असली स्वरूप इन दोनोसे ही विलक्षण है जिसका ध्यान नही किया जा सकता। निराकारके ध्यान करनेकी कई युक्तियाँ है। जिसको जो सुगम मालूम हो, वह उसीका अभ्यास करे। सवका फल एक ही है। कुछ युक्तियाँ यहाँ पर वतलायी जाती है।

साधकको श्रीगीताके अध्याय ६। ११ से १३ के अनुसार एकान्त स्थानमे स्वस्तिक या सिद्धासनसे वैठकर, नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर या आँखे वंदकर (अपने इच्छा-नुसार) नियमपूर्वक प्रतिदिन कम-से-कम तीन घटेका समय ध्यानके अभ्यासमे विताना चाहिये। तीन घंटे कोई न कर सके तो दो करे, दो नही तो एक घटे अवश्य ध्यान करना चाहिये। शुरू-शुरूमे मन न लगे तो पद्रह-वीस मिनिटसे आरम्भ कर धीरे-धीरे ध्यानका समय वढाता रहे। वहुत शीघ्र प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोके लिये तीन घटेका अभ्यास आवश्यक है। ध्यानमें नाम-जपसे वड़ी सहायता मिलती है। ईश्वरके सभी नाम समान हैं, परन्तु निराकारकी उपासनामे ॐकार प्रधान है। योगदर्शनमे भी महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

तस्य वाचकः प्रणव.। तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(१। २७-२८)

'उसका वाचक प्रणव (ॐ) है, उस प्रणवका जप करना और उसका अर्थ (परमात्मा) का ध्यान करना चाहिये।'

इन सूत्रोका मूल आधार--'ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।' (योग० १ । २३) है । इसमे भगवान्की शरण होनेको और उन दोनोमेसे पहलेमें भगवान्का नाम वतलाकर, दूसरेमे नाम-जप और स्वरूपका ध्यान करने की बात कही गयी है ।

महर्षि पतञ्जलिके परमेश्वरके स्वरूपसम्बन्धी अन्य विचारोंके सम्बन्धमे मुझे यहाँपर कुछ नही कहना है । यहाँपर मेरा अभिप्राय केवल यही है कि ध्यानका लक्ष्य ठीक करनेके लिये पतञ्जलिजीके कथनानुसार स्वरूपका ध्यान करते हुए नामका जप करना चाहिये । ॐकी जगह कोई 'आनन्दमय' या 'विज्ञानानन्दघन' ब्रह्मका जप करे तो भी कोई आपत्ति नही है । भेद नामोमे है, फल मे कोई फर्क नही है ।

जप सवसे उत्तम वह होता है, जो मनसे होता है, जिसमे जीभ हिलाने और ओष्ठसे उच्चारण करनेकी कोई आवश्यकता नही होती । ऐसे जपमे ध्यान और जप दोनो साथ ही हो सकते है । अन्तःकरणके चार पदार्थोमेंसे मन और बुद्धि दो प्रधान है । बुद्धिसे पहले परमात्माका स्वरूप निश्चय करके उसमे बुद्धि स्थिर कर ले, फिर मनसे उसी सर्वत्र परिपूर्ण आनन्दमयकी पुनः-पुनः आवृत्ति करता रहे । यह जप भी है और ध्यान भी । वास्तवमें आनन्दमयके जप और ध्यानमे कोई खास अन्तर नही है । दोनो काम एक साथ किये जा सकते हैं । दूसरी युक्ति श्वासके द्वारा जप करनेकी है । श्वासोंके आते और जाते समय कण्ठसे नामका जप करे, जीभ और ओष्ठोंको वदकर श्वासके साथ नामकी आवृत्ति करता रहे

यही प्राणजप है, इसको प्राणद्वारा उपासना कहते है। यह जप भी उच्च श्रेणीका है। यह न हो सके तो मनमे ध्यान करे और जीभसे उच्चारण करे; परन्तु मेरी समझसे इनमें साधकके लिये अधिक सुगम और लाभप्रद श्वासके द्वारा किया जानेवाला जप है। यह तो जपकी बात हुई, असलमें जप तो निराकार और साकार दोनो प्रकारके ध्यानमें ही होना चाहिये। अब निराकारके ध्यानके सम्ब-ंधमे कुछ कहा जाता है—

एकान्त स्थानमे स्थिर आसनसे बैठकर एकाग्र-चित्तसे इस प्रकार अभ्यास करे। जो कोई भी वस्तु इन्द्रिय और मनसे प्रतीत हो उसीको कल्पित समझकर उसका त्याग करता रहे। जो कुछ प्रतीत होता है, सो है नही। स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नही है, इस प्रकार सबका अभाव करते-करते अभाव करनेवाले पुरुषकी वह वृत्ति- (जिसे ज्ञान, विवेक और प्रत्यय भी कहते है, यह सब शुद्ध बुद्धिके कार्य हैं, यहाँपर बुद्धि ही इनका अधिकरण है, जिसके द्वारा परमात्माके स्वरूपका मनन होता है और प्रतीत होनेवाली प्रत्येक वस्तुमे यह नही है, यह नही है, ऐसा अभाव हो जाता है, इसीको वेदोमें नेति-नेति—ऐसा भी नही, ऐसा भी नही—कहा है।) अर्थात् दृश्यको अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाती है। उस वृत्तिका त्याग करना नही पड़ता, स्वयमेव हो जाता है। त्याग करनेमे तो त्याग करनेवाला, त्याज्य वस्तु और त्याग, यह त्रिपुटी आ जाती है। इसलिये त्याग करना नहीं बनता, त्याग हो जाता है। जैसे इन्धनके अभावमें अग्नि स्वयमेव शान्त हो जाती है, इसी प्रकार विषयोके सर्वथा अभाव-

से वृत्तियाँ भी सर्वथा शान्त हो जाती है । शेपमे जो बच रहता है, वही परमात्माका स्वरूप है इसीको निर्बीज समाधि कहते है ।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज· समाधिः ।

(योग १ । ५१)

यहाँपर यह शका होती है कि त्यागके बाद त्यागी बचता है । वह अल्प है, परमात्मा महान् है, इसलिये बच रहनेवालेको ही परमात्माका स्वरूप कैसे कहा जाता है ? बात ठीक है, परन्तु वह अल्प वहीतक है, जबतक वह एक सीमाबद्ध स्थानमे अपनेको मानकर बाकीकी सब जगह दूसरोंसे भरी हुई समझता है । दूसरी सब वस्तुओका अभाव हो जानेपर, शेषमें बचा हुआ केवल एक तत्त्व ही 'परमात्मतत्त्व' है । संसार को जड़से उखाड़कर फेंक देनेपर परमात्मा आप ही रह जाते है । उपाधियोंका नाश होते ही सारा भेद मिटकर अपार एकरूप परमात्माका स्वरूप रह जाता है, वहीसब जगह परिपूर्ण और सभी देश-कालमे व्याप्त है । वास्तवमें देश-काल भी उसमे कल्पित ही है । वह तो एक ही पदार्थ है जो अपने ही आपमे स्थित है, जो अनिर्वचनीय है और अचिन्त्य है । जब चिन्तनका सर्वथा त्याग हो जाता है, तभी उस अचिन्त्य ब्रह्मका खजाना निकल पड़ता है, साधक उसमें जाकर मिल जाता है । जब तक अज्ञानकी आड़से दूसरे पदार्थ भरे हुए थे, तबतक वह खजाना अदृश्य था । अज्ञान मिटनेपर एक ही वस्तु रह जाती है, तब उसमें मिल जाना यानी सम्पूर्ण वृत्तियोका शान्त होकर एक ही वस्तुका रह जाना निश्चित है ।

महाकाशसे घटाकाश तभीतक अलग है, जबतक घड़ा फूट नही जाता। घड़ेका फूटना ही अज्ञानका नाश होना है, परन्तु यह दृष्टान्त भी पूरा नही घटता। कारण, घड़ा फूटनेपर तो उसके टूटे हुए टुकड़े आकाशका कुछ अश रोक भी लेते हैं। परन्तु यहाँ अज्ञानरूपी घड़ेके नाश हो जानेपर ज्ञानका जरा-सा अंश रोकनेके लिये भी कोई पदार्थं नही बच रहता। भूल मिटते ही जगत्का सर्वंथा अभाव हो जाता है। फिर जो बच रहता है, वही ब्रह्म है। उदाहरणार्थं, जैसे घटाकाश जीव है, महाकाश परमात्मा है। उपाधिरूपी घट नष्ट हो जानेपर दोनों एकरूप हो जाते हैं। एकरूप तो पहले भी थे, परन्तु उपाधि-भेदसे भेद प्रतीत होता था।

वास्तवमे आकाशका दृष्टान्त परमात्माके लिये सर्वंदेशी नही है। आकाश जड है, परमात्मा जड नही। आकाश दृश्य है, परमात्मा दृश्य नही है। आकाश विकारी है, परमात्मा विकारशून्य है। आकाश अनित्य है, महाप्रलयमे इसका नाश होता है, परमात्मा नित्य है। आकाश शून्य है, उसमे सब कुछ समाता है, परमात्मा घन है, उसमे दूसरेका समाना सम्भव नही। आकाशसे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है। ब्रह्मके एक अशमें माया है, जिसे अव्याकृत प्रकृति कहते हैं, उसके एक अशमें महत्तत्त्व (समष्टि-बुद्धि) है, जिस बुद्धिसे सबकी बुद्धि होती है, उस बुद्धिके एक अशमें अहंकार है, उस अहकारके एक अंशमें आकाश, आकाशमे वायु, वायुमे अग्नि, अग्निमे जल और जलमे पृथ्वी। इस प्रकार प्रक्रियासे यह सिद्ध होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड मायाके एक अशमे है और वह माया परमात्माके एक अशमे है, इस न्यायसे आकाश तो

परमात्माकी तुलनामें अत्यन्त ही अल्प है, परन्तु इस अल्पताका पता परमात्माके जाननेपर ही लगता है। जैसे, एक आदमी स्वप्न देखता है। स्वप्नमे उसे दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात आदि समस्त पदार्थ भासते है, बड़ा विस्तार दीख पड़ता है परन्तु आँख खुलते ही उस सारी सृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर पता लगता है कि वह सृष्टि तो अपने ही संकल्पसे अपने ही अन्तर्गत थी, जो मेरे अन्दर थी वह अवश्य ही मुझसे छोटी वस्तु थी, मैं तो उससे वड़ा हूँ। वास्तवमे तो थी ही नही, केवल कल्पना ही थी, परन्तु यदि थी भी तो अत्यन्त अल्प थी, मेरे एक अंशमें थी, मेरा ही संकल्प था। अतएव मुझसे कोई भिन्न वस्तु नही थी। यह ज्ञान आँख खुलनेपर—जागनेपर होता है, इसी प्रकार परमात्माके सच्चे स्वरूपमें जागनेपर यह सृष्टि भी नही रहती। यदि कही रहती है ऐसा माने, तो वह महापुरुषोके कथनानुसार परमात्माके एक जरा-से अंशमे और उसीके सकल्पमात्र में रहती है।

इसलिये आकाशका दृष्टान्त परमात्मामें पूर्णरूपसे नही घटता। इतने ही अशमे घटता है कि मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाश निराकार है, ब्रह्म वास्तवमें वैसे ही निराकार है। मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाशकी अनन्तता भासती है, वैसे ही ब्रह्म सत्य अनन्त है। मनुष्यकी दृष्टिसे समझानेके लिये आकाशका उदाहरण है। इन सब वस्तुओंका अभाव होनेपर प्राप्त होनेवाली चीज कैसी है उसका स्वरूप कोई नही कह सकता, वह तो अत्यन्त विलक्षण है। सूक्ष्मभावके तत्त्वज्ञ सूक्ष्मदर्शी महात्मागण उसे 'सत्य ज्ञानमनन्तं

ब्रह्म' कहते है। वह अपार है, असीम है, चेतन है, ज्ञाता है, घन है, आनन्दमय है, सुखरूप है, सत् है, नित्य है। इस प्रकारके विशेषणोसे वे विलक्षण वस्तुका निर्देश करते है। उसकी प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी पतन नही होता। दुःख, क्लेश, दुर्गुण, शोक, अल्पता, विक्षेप, अज्ञान और पाप आदि सब विकारोंकी सदाके लिये आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। एक सत्य, ज्ञान, बोध, आनन्दरूप ब्रह्मके वाहुल्यकी जागृति रहती है। यह जागृति भी केवल समझानेके लिये ही है। वास्तवमे तो कुछ कहा नही जा सकता।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

(गीता १३। १२)

'वह आदिरहित परब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है।'

यदि ज्ञानका भोक्ता कहें तो कोई भोग नही है। यदि ज्ञानरूप या सुखरूप कहें तो कोई भोक्ता नही है। भोक्ता, योग, भोग्य सब कुछ एक ही रह जाता है, वह एक ऐसी चीज है, जिसमे त्रिपुटी रहती ही नही। एक तो यह निराकारके ध्यानकी विधि है।

ध्यानकी दूसरी विधि

एकान्त स्थानमे बैठकर आँखे मूँदकर ऐसी भावना करे कि मानो सत् चित् आनन्दघनरूपी समुद्रकी अत्यन्त बाढ़ आ गयी है और मैं उसमे गहरा डूबा हुआ हूँ। अनन्त-विज्ञानानन्दघन समुद्रमे निमग्न हूँ। समस्त ससार परमात्माके सकल्पमे था, उसने संकल्प त्याग दिया, इससे मेरे सिवा सारे संसारका अभाव होकर

सर्वत्र एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह गये । मै परमात्माका ध्यान करता हूं तो परमात्माके सङ्कल्पमे मै हूँ, मेरे सिवा और सबका अभाव हो गया । जब परमात्मा मेरा सङ्कल्प छोड़ देंगे, तव मैं भी नही रहूँगा, केवल परमात्मा ही रह जायँगे । यदि परमात्मा मेरा सकल्प न त्याग कर मुझे स्मरण रक्खे तो भी वड़े आनन्दकी वात है। इस प्रकार भेदसहित निराकारकी उपासना करे ।

इसमें साधनकालमें भेद है और सिद्धकालमें अभेद है, परमात्माने सकल्प छोड़ दिया, वस एक परमात्मा ही रह गये । एक युक्ति यह है । इसके अतिरिक्त निराकारके ध्यानकी और भी कई युक्तियाँ हैं, उनमेसे दो युक्तियाँ 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' शीर्षक लेखमें बतलायी गयी हैं, वहाँ देखनी चाहिये। कहनेका अभिप्राय यह है कि निराकारका ध्यान दो प्रकारसे होता है—भेदसे और अभेदसे । दोनोका फल एक अभेद परमात्माकी प्राप्ति ही है । जो लोग जीवको सदा अल्प मानकर परमात्मासे कभी उसका अभेद नही मानते, उनकी मुक्ति भी अल्प होती है, सदाके लिये वे मुक्त नही होते । उन्हे प्रलयकालके वाद वापस लौटना ही पड़ता है, इस मुक्तिवादसे वे ब्रह्मको प्राप्त हो करके भी अलग रह जाते हैं ।

अव साकारके ध्यानके सम्बन्धमे कुछ कहा जाता है। साकारकी उपासनाके फल दोनों प्रकारके होते है । साधक यदि सद्योमुक्ति चाहता है, शुद्ध ब्रह्ममे एकरूपसे मिलना चाहता है तो उसमें मिल जाता है, उसकी सद्योमुक्ति हो जाती है, परन्तु यदि वह ऐसी इच्छा करता है कि मैं दास, सेवक या सखा वनकर भगवान्‌के

समीप निवासकर प्रेमानन्दका भोग करूँ या अलग रहकर संसारमें भगवत्प्रेम-प्रचाररूप परम सेवा करूँ तो उसको सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य आदि मुक्तियोंमेसे यथारुचि कोई-सी मुक्ति मिल जाती है और वह मृत्युके बाद भगवान्के परम नित्यधाममे चला जाता है। महाप्रलयतक नित्यधाममें रहकर अन्तमें परमात्मामे मिल जाता है या ससारका उद्धार करनेके लिये कारक पुरुष बनकर जन्म भी ले सकता है परन्तु जन्म लेनेपर भी वह किसी फँसावटमें नही फँसता। माया उसे किञ्चित् भी दुःख-कष्ट नही पहुँचा सकती, वह नित्य मुक्त ही रहता है। जिस नित्यधाममे ऐसा साधक जाता है वह परम धाम सर्वोपरि है, सबसे श्रेष्ठ है। उससे परे एक सच्चिदानन्दघन निराकार शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नही है। वह सदासे है, सब लोकोंका नाश होनेपर भी वह बना रहता है। उसका स्वरूप कैसा है? इस बातको वही जानता है जो वहाँ पहुँच जाता है। वहाँ जानेपर सारी भूलें मिट जाती है। उसके सम्बन्धकी सम्पूर्ण भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ वहाँ पहुँचनेपर एक यथार्थ सत्यस्वरूपमे परिणत हो जाती हे। महात्मागण कहते है कि वहाँ पहुँचे हुए भक्तोंको प्रायः वह सब शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती है, जो भगवान्मे हैं, परन्तु वे भक्त भगवान्के सृष्टिकार्यके विरुद्ध उनका उपयोग कभी नही करते। उस महामहिम प्रभुके दास, सखा या सेवक बनकर जो उस परमधाममें सदा समीप निवास करते है वे सर्वदा उसकी आज्ञामें ही चलते है। गीताके अ० ८। २४ का श्लोक इस परमधाममे जानेवाले साधकके लिये ही है। बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद्में और अर्चिमार्गका विस्तृत

वर्णन है । इस नित्यधामको ही सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, भगवान् श्रीरामके उपासक साकेतलोक कहते हैं। वेदमे इसीको सत्यलोक और ब्रह्मलोक कहा है । (वह ब्रह्मलोक नही जिसमे ब्रह्माजी निवास करते है, जिसका वर्णन गीता अध्याय ८ के १६ वे श्लोकके पूर्वार्धमें है ।) भगवान् साकाररूपसे अपने इसी नित्यधाममे विराजते हैं। साकार रूप मानकर नित्य परम-धाम न मानना बड़ी भूलकी बात हैं ।

भक्तोंके लिये भगवान् साकार कैसे बनते हैं ?

परमात्मा सत् चित् आनन्दघन नित्य अपार रूपसे सभी जगह परिपूर्ण है । उदाहरणके लिये अग्निका नाम लिया जा सकता है । अग्नि निराकाररूपसे सभी स्थानोंमे व्याप्त है, प्रकट करनेकी सामग्री एकत्र करके साधन करनेसे ही वह प्रकट हो जाती है । प्रकट होने-पर उसका व्यक्त रूप उतना ही लम्बा-चौड़ा दीख पड़ता है, जितना लकडी आदि पदार्थका होता है । इसी प्रकार गुप्तरूपसे सर्वत्र व्यापक अदृश्य सूक्ष्म निराकार परमात्मा भी भक्तके इच्छा-नुसार साकार रूपमे प्रकट होते है । वास्तवमें अग्निकी व्यापकताका उदाहरण भी एकदेशीय है, क्योकि जहाँ केवल आकाश या वायुतत्त्व है, वहाँ अग्नि नही है परन्तु परमात्मा तो सब जगह परिपूर्ण है, परमात्माकी व्यापकता सबसे श्रेष्ठ और विलक्षण है । ऐसा कोई स्थान नही जहाँ परमात्मा न हो और ससारमे ऐसी भी कोई जगह नही कि जहाँ परमात्माकी माया न हो । जहाँ देशकाल है वही माया है । मायारूप सामग्रीको लेकर परमात्मा चाहे जहाँ

प्रकट हो सकते हैं। जहाँ जल है और शीतलता है, वही बर्फ जम सकती है। जहाँ मिट्टी और कुम्हार है, वही घड़ा बन सकता है। जल और मिट्टी तो शायद सब जगह न भी मिले परन्तु परमात्मा और उनकी माया तो ससारमे सभी जगह मिलती है, ऐसी स्थितिमे उनके प्रकट होनेमें कठिनता ही क्या है? भक्तका प्रेम चाहिये।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रकट होंहि मै जाना॥

निराकारकी व्यापकताका विचार तो सभी कर सकते है परन्तु साकाररूपसे तो भगवान् केवल भक्तको ही दीखते है। वे सर्वशक्तिमान् है, चाहे जैसे कर सकते है। एकको, अनेकको या सबको एक साथ दर्शन दे सकते है, उनकी इच्छा है। अवश्य ही वह इच्छा लड़कोके खेलकी तरह दोषयुक्त नही होती है। उनका इच्छा विशुद्ध होती है। भक्तकी इच्छा भी भगवान्के भावानुसार ही होती है। भगवान्‌ने कहा है कि मै भक्तके हृदयमे रहता हूँ। बात ठीक है। जैसे हम सबके शरीरमे निराकाररूपसे अग्नि स्थित है, उसी प्रकार भगवान् भी निराकार सत् चित् आनन्दघनरूपसे सभीके हृदयमे स्थित है, परन्तु भक्तोंका हृदय शुद्ध होनेसे उसमे वे प्रत्यक्ष दीख पड़ते है, यही भक्त-हृदयकी विशेषता है। सूर्यका प्रतिबिम्ब काठ, पत्थर और दर्पणपर समान ही पड़ता है परन्तु स्वच्छ दर्पणमे तो वह दीखता है, काठ, पत्थरमे नही दीखता। इसी प्रकार भगवान् सबके हृदयमे रहनेपर भी अभक्तोके काष्ठसदृश अशुद्ध हृदयमे दिखलायी नही देते और भक्तोके स्वच्छ

दर्पण-सदृश शुद्ध हृदयमें प्रत्यक्ष दीख पड़ते है। भक्त ध्यानमे उन्हे जैसा समझता है, वैसे ही वे उसके हृदयमें बसते है।

महात्मा लोग कहा करते हैं कि जहाँ कीर्तन होता है वहाँ भगवान् स्वयं साकाररूपसे उपस्थित रहते है, कीर्तन करते हुए भक्तको साकाररूपमे दीखते भी है। यह नही समझना चाहिये कि यह केवल भक्तकी भावना ही है। वास्तवमें उसे सत्यरूपसे ही दीखते है। केवल प्रतीत होनेवाला तो मायाका कार्य है। भगवान् तो मायाशक्तिके प्रभु है। महापुरुषोंकी यह मान्यता सत्य है कि—

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

(आदि पु० १९। ३५)

यह हो सकता है कि भगवान् साकाररूपसे कीर्तनमें रहकर भी किसीको न दीखे, परन्तु वे कीर्तनमें स्वयं रहते है इस बातपर विश्वास करना ही श्रेयस्कर है।

जब भगवान् चाहे जहाँ, जिस रूपमे भक्तके इच्छानुसार प्रकट हो सकते है तब भक्त अपने भगवानका किसी भी रूपमे ध्यान करे, फल एक ही होता है। मोरमुकुटधारी श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करे या धनुषबाणधारी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका करे। शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् श्रीविष्णुका ध्यान करे या विश्वरूप विराट् परमात्माका, बात एक ही है। जिस रूपका ध्यान करे उसीको पूर्ण मानकर करना चाहिए। इसी प्रकार जप भी अपनी रुचिके अनुसार ॐ, राम, कृष्ण, हरि, नारायण, शिव आदि किसी भी भगवन्नामका करे, सबका फल एक ही है।

सगुणके ध्यानकी कुछ विधि 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' और 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय'* शीर्षक लेखोंमें है। वहाँ देख लेनी चाहिये।

अब यहाँ भगवान्‌के विश्वरूपके सम्बन्धमे कुछ कहना है। भगवान्‌ने अर्जुनको जो रूप दिखलाया था वह भी विश्वरूप या और वेदवर्णित भूर्भुवः स्वः—रूप यह ब्रह्माण्ड भी भगवान्‌का विश्व-रूप है। दोनों एक ही बात है। सारा विश्व ही भगवान्‌का स्वरूप है। स्थावर-जङ्गम सबमें साक्षात् परमात्मा विराजमान है। समस्त विश्वको परमात्माका स्वरूप मानकर उसका सत्कार और सेवा करना ही विश्वरूप परमात्माका सत्कार और सेवा करना है। विश्वमें जो दोष या विकार है, वह सब परमात्माके स्वरूपमे नही है। ये सब बाजीगरकी लीलाके समान क्रीड़ामात्र है। नाम-रूप सब खेल है। भगवान् तो सदा अपने ही स्वरूपमे स्थित है। निराकाररूपसे तो परमात्मा बर्फमे जलकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण है, बर्फमे जलसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है। जलकी जगह बर्फका पिण्ड दीखता है, वास्तवमे कुछ है नही। इसी प्रकार उस शुद्ध ब्रह्ममे यह ससार दीखता है, वस्तुतः है नही।

सगुणरूपसे अग्निकी तरह अव्यक्त होकर व्यापक है, सो चाहे जब साकाररूपमे प्रकट हो सकता है, यही बात ऊपर कही गयी है, इसी व्यापक परमात्माको विष्णु कहते है, विष्णु शब्दका अर्थ ही व्यापक होता है।

* 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' और 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' नामक दोनो लेख पुस्तकाकार गीताप्रेससे अलग भी मिल सकते है।

भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त हैं और केवल सद्‌गुणसम्पन्न हैं

भगवान्‌में कोई भी गुण नही, वे गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुण उनमे है और उनमे केवल सद्‌गुण है, दुर्गुण है ही नही—ये तीनों ही बातें भगवान्‌के लिये कही जा सकती है। इस विषयको कुछ समझना चाहिये।

शुद्ध ब्रह्म निराकार चेतन विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी परमात्माका वास्तविक रूप सम्पूर्ण गुणोंसे सर्वथा अतीत है। जगत्‌के सारे गुण-अवगुण सत्, रज और तमसे बनते है। सत्, रज, तम तीनो गुण मायाके अन्तर्गत है, इसीसे उसका नाम त्रिगुणमयी माया है। इनमे सत्त्व उत्तम है, रज मध्यम है और तम अधम है। परमात्मा इस मायासे अत्यन्त विलक्षण, सर्वथा अतीत और गुण रहित है, इसीसे उसका नाम शुद्ध है अतएव वह गुणातीत है।

माया वास्तवमे है तो नही, यदि कही मानी जाय तो वह भी कल्पनामात्र है। यह माया की कल्पना परमात्माके एक अशमें है। गुण-अवगुण सब मायामे है। इस न्यायसे सत्य, दया, त्याग, विचार और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि गुण और अवगुणोंसे युक्त यह सम्पूर्ण संसार उस परमात्मामे ही अध्यारोपित है। इसीसे सभी सद्‌गुण और दुर्गुण उसीमे आरोपित माने जा सकते है। इस स्थितिमे वह बुरे-भले सभी गुणोसे युक्त कहा जा सकता है।

यह ब्रह्माण्ड जिसके अन्तर्गत है, वह मायाविशिष्ट ब्रह्म सृष्टिकर्ता ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, वह मायाको अपने अधीन

करके प्रादुर्भूत होता है, समय-समयपर अवतार धारण करता है, इसीसे उसे मायाविशिष्ट कहते है। गीतामे कहा है--

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

जैसे अवतार होते है वैसे ही सृष्टिके आदिमे मायाको अपने अधीन करके ही भगवान् प्रकट होते है। इन्हीका नाम विष्णु है, ये आदिपुरुष विष्णु सर्वसत्त्वगुणसम्पन्न है। सत्त्व-गुणकी मूर्ति है। सात्त्विक तेज, प्रभाव, सामर्थ्य, विभूति आदिसे विभूषित है। दैवी सम्पदाके गुण ही सत्त्वगुण है। शुद्ध सत्त्व ही उनका स्वरूप है। दुर्गुण तो रज और तममे रहते है, प्रेम सादृश्यता और समानतामे होता है, इसीसे जिस भक्तमे दैवी सम्पत्तिके गुण होते है वही भगवान्‌के दर्शनका उपयुक्त पात्र समझा जाता है। मायाविशिष्ट सगुण भगवान् मायाको साथ लेकर समय-समयपर अवतार धारण किया करते है। वे सर्वगुणसम्पन्न, शुद्ध, स्वतन्त्र, प्रभु और सर्वशक्तिमान है। ऐसी कोई भी वात नही जो वे नहीं कर सके। इसीलिये यद्यपि उन शुद्ध सत्त्वगुणरूप सगुण-साकार परमात्मामे रज और तम वास्तवमे नही रहते तथापि वह रज-तमका कार्य कर सकते है। भगवान् विष्णु दुष्टदलनरूप हिंसात्मक कार्य करते हुए दीख पड़ते है। मानव-दृष्टिसे उनमें हिंसा या तमकी प्रतीति होती है, परन्तु वस्तुतः उनमें यह वात नही है। न्यायकारी होनेके कारण वे यथावश्यक

कार्य करते है । राजा जनक मुक्त पुरुप थे, परम सात्त्विक थे, परन्तु राजा होनेके कारण न्याय करना उनका काम था । चोरोको वे दण्ड भी दिया करते थे । इसमें कोई दोषकी बात भी नही । माता अपने प्यारे बच्चेको शिक्षा देनेके लिये धमकाती और किसी समय आवश्यक समझकर हितभरे हृदयसे एक-आध थप्पड़ भी जमा देती है परन्तु ऐसा करनेमे उसकी दया ही भरी रहती है । इसी प्रकार दयानिधि न्यायकारी भगवान्‌का दण्डविधान भी दयासे युक्त ही होता है । धर्मानुकूल काम भी भगवान् है । भगवान्‌ने कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

(*गीता ७ । ११*)

धर्मयुक्त काम मैं हूँ, परन्तु पापयुक्त नही । भगवान् सत् है, सात्त्विक है, शुद्ध सत्त्व है । वे मायाकी शुद्धसत्त्वविद्यासे सम्पन्न है । जीव अविद्यासम्पन्न है । विद्यामे ज्ञान है, प्रकाश है । वहाँ अवगुण या अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है । अवगुण तो अविद्यामे रहते हैं । इस न्यायसे भगवान् केवल सद्‌गुणसम्पन्न है ।

ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि परमात्मा गुणातीत, गुणागुणयुक्त और केवल सत्वगुणसम्पन्न कहे जा सकते हैं ।

भगवान्‌का स्वरूप
और
निराकार-साकारकी एकता

शरीरके तीन भेद है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण । जो दीख पड़ता है सो स्थूल है, जो मरनेपर साथ जाता है वह सूक्ष्म है और जो मायामें लय हो जाता है वह कारण है । शरीरके ये

तीनो भेद नित्य भी देखे जाते है। जाग्रत्में स्थूल शरीर काम करता है, स्वप्नमे सूक्ष्म और सुषुप्तिमें कारण रहता है। इसी प्रकार परमात्माके भी तीन स्वरूप कहे जा सकते हैं। महाप्रलयमें रहनेवाला परमात्माका कारण स्वरूप है, सारा विश्व उसीमें लय होकर रहता है, उस समय केवल परमेश्वर और उनकी प्रकृति रहते है, सारे जीव प्रकृतिके अन्दर लय हो जाते है। जीवमें भी प्रकृति-पुरुष दोनोका अश है। चेतनता परमात्माका अश है और अज्ञान प्रकृतिका। मायाकी उपाधिके कारण महाप्रलयमें भी जीव मुक्त नही होते। उसके वाद सृष्टिके आदिमे फिर सोकर जाग उठनेके समान अपने-अपने कर्मफलानुरूप नाना रूपोमे जाग उठते है। इस प्रकार महाप्रलयमे परमात्माका रूप कारण कहा जा सकता है।

परमात्माका सूक्ष्म रूप सब जगह रहता है, इसीका नाम आदिपुरुष है, सृष्टिका आदिकारण यही है, इसीका नाम पुरुषोत्तम-सृष्टिकर्ता ईश्वर है।

परमात्मा स्थूलरूपसे शख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् विष्णु है, जो सदा नित्यधाम मे विराजते है।

भक्तकी भावनाके अनुसार ही भगवान् वन जाते है। यह समस्त ब्रह्माण्ड परमात्माका शरीर है, इसीके अदर अपना शरीर है, इस न्यायसे हम सब भी परमात्माके पेटमे है।

एक तत्त्वकी वात और समझनी चाहिये। जब आकाश निर्मल होता है, सूर्य उगे हुए होते है, उस समय सूर्यके और अपने बीचमें आकाशमे कोई चीज नही दिखती, परन्तु वहाँ जल

रहता है। यह मानना पड़ेगा कि सूर्य और अपने बीचमें जल भरा हुआ है परन्तु वह दीखता नहीं; क्योंकि वह सूक्ष्म और परमाणुरूप में रहता है, जब उसमें घनता आती है तब क्रमशः उसका रूप स्थूल होकर व्यक्त होने लगता है। सूर्यदेवके तापसे भाप बनती है, जब भाप घन होती है तब उसके बादल बन जाते हैं, फिर उसमे जलका सञ्चार होता है। पानीके बादल पहाड़परसे चले जाते हों, उस समय कोई वहाँ चला जाय तो वर्षा न होनेपर भी उसके कपड़े भीग जाते है। बादलमे जलकी घनता होनेपर बूँदे बन जाती है, और घनता होती है तो वही ओले बनकर बरसने लगता है। फिर वह ओले या बर्फ गर्मी पहुँचते ही गलकर पानी हो जाते है और अधिक गर्मी होनेपर उसीकी फिर भाप बन जाती है, भाप आकाशमे उड़कर अदृश्य हो जाती है और अन्तमे जल फिर उसी परमाणु अव्यक्तरूपमे परिणत हो जाता है। इस परमाणुमे स्थित जलको—अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुको सहस्रगुण स्थूल दिखलानेवाले यन्त्रसे भी कोई नही देख सकता। पर जल रहता अवश्य है, न रहता तो आता कहाँसे ?

इस दृष्टान्तके अनुसार परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

(८। ३-४)

अर्जुनके सात प्रश्नोमें छः प्रश्न ये थे कि ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत क्या है, अधिदैव क्या है और अधियज्ञ क्या है ? भगवान्ने उपर्युक्त श्लोकोंमे इनका यह उत्तर दिया कि अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म है, शास्त्रोक्त त्याग कर्म है, नाश होनेवाले पदार्थ अधिभूत है, समष्टिप्राणरूपसे हिरण्यगर्भ द्वितीय पुरुष अधिदैव है और निराकार व्यापक विष्णु अधियज्ञ मैं हूँ।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे इसका दार्ष्टान्त इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) परमाणुरूप जलके स्थानमे—

शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्मा, जिसमे यह ससार न तो कभी हुआ और न है; जो केवल अतीत, परम अक्षर है।

(२) भापरूप जल—

वही शुद्ध ब्रह्म अधियज्ञ निराकाररूपसे व्याप्त रहनेवाला मायाविशिष्ट ईश्वर।

(३) बादल—

अधिदैव, सबका प्राणाधार हिरण्यगर्भ ब्रह्मा। सत्रह तत्त्वोके समूहको सूक्ष्म कहते है, इनमे प्राण प्रधान है। सबके प्राण मिलकर समष्टिप्राण हो जाते है, यह समष्टिप्राण प्रलयमे भी रहता है, महाप्रलयमे नही। यह सत्रह तत्त्वोंका समूह हिरण्यगर्भ ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर है।

(४) जलकी लाखो-करोड़ों बूँदे।

जगत्के सब जीव।

(५) वर्षा—
जीवोंकी क्रिया
(६) जलके ओले या बर्फ—
पञ्चभूतोंकी अत्यन्त स्थूल सृष्टि ।

इस सृष्टिका स्वरूप इतना स्थूल और विनाशशील है कि जरा-सा ताप लगते ही क्षणभरमें ओलोंके गलकर पानी हो जानेके सदृश तुरन्त गल जाता है । वहाँ ताप ज्ञानाग्निरूप वह प्रकाश है, जिसके पैदा होते ही स्थूल सृष्टिरूपी ओले तुरन्त गल जाते है ।

अज्ञान ही सरदी है । जितना अज्ञान होता है उतनी स्थूलता होती है और जितना ज्ञान होता है उतनी ही सूक्ष्मता होती है । जो पदार्थ जितना भारी होता है, वह उतना ही नीचे गिरता है, जितना हलका होता है उतना ही ऊपरको उठता है । अज्ञान ही बोझा है, जलके अत्यन्त स्थूल होनेपर जब वह वर्फ बन जाता है तभी उसे नीचे गिरना पड़ता है, इसी प्रकार अज्ञानके बोझसे स्थूल हो जानेपर जीवको गिरना पड़ता है ।

ज्ञानरूपी तापके प्राप्त होते ही ससारका बोझ उतर जाता है और जैसे तापसे गलकर जल बननेपर और भी ताप प्राप्त होनेसे वह जल धूआँ या भाप होकर ऊपर उड़ जाता है, वैसे ही जीव भी ऊपर उठ जाता है ।

जीवात्मा खास ईश्वरका स्वरूप है, परतु जडता या अज्ञानसे जब यह स्थूल हो जाता है तभी इसका पतन होता है । अज्ञान ही अधःपतनका कारण है और ज्ञान ही उत्थानका कारण है ।

जीवात्मा एक वार शेष सीमातक उठनेपर फिर नही गिरता। उसके ज्ञानमे सब कुछ परमेश्वर ही हो जाता है, वास्तवमें तत्त्वसे है तो एक ही। परमाणु, भार, बादल, बूँद, ओले सव जल ही तो है।

इस न्याय से सभी वस्तुएँ एक ही परमात्मतत्व है, इसलिये भगवान् चाहे जैसे, चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपसे प्रकट हो जाते है। इस बातका ज्ञान होनेपर साधकको सव जगह ईश्वर ही दीखते है। जलका तत्त्व समझ लेनेपर सब जगह जल ही दीखता है, वही परमाणुमे और वही ओलोमें। अत्यन्त सूक्ष्ममें भी वही और अत्यन्त स्थूलमें भी वही। इसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूलमे वही एक परमात्मा है। **'अणोरणीयान् महतो महीयान्।'** यही निराकार-साकारकी एकरूपता है—

अज्ञानसे अहंकार वढ़ता है, जितना अहंकार अधिक होता है उतना ही वह सांसारिक वस्तुओंको अधिक ग्रहण करता है। जितना सासारिक वोझ अधिक होगा उतना ही वह नीचे जायगा। गुण तीन है इनमें तमोगुण सबसे भारी है, इसीसे तमोगुणी पुरुष नीचे जाता है। रजोगुण समान है इससे रजोगुणी बीचमें—मनुष्यादिमे रह जाता है। सत्त्वगुण हलका है, इससे सत्त्वगुणी परमात्माकी ओर ऊपरको उठता है—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था.'

'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'

'अधो गच्छन्ति तामसाः'

हलकी चीज ऊपर तैरती है, भारी डूव जाती है। आसुरी सम्पदा तमोगुणका स्वरूप है, इसलिये वह नीचे ले जाती है, सत्त्व-गुण हलका होनेसे ऊपरको उठाता है। दैवी सम्पदा ही सत्त्वगुण है,

यही ईश्वरकी सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति ज्यो-ज्यो बढ़ती है त्योंही-त्यो साधक ऊपर उठता है, यानी परमात्माके समीप पहुँचता है।

इस तरहसे स्थूल और सूक्ष्ममे उस एक ही परमात्माको व्यापक समझना चाहिये।

परमात्मा व्यापकरूपसे सबको देखते और जानते है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३। १३)

वह ज्ञेय कैसा है? सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर तथा मुखवाला एवं सब ओरसे कानवाला है। ऐसा कोई स्थान नही जहाँ वह न हो, ऐसा कोई शब्द नही जिसे वह न सुनता हो, ऐसा कोई दृश्य नही जिसे वह न देखता हो, ऐसी कोई वस्तु नही जिसे वह न ग्रहण करता हो और ऐसी कोई जगह नही जहाँ वह न पहुँचता हो।

हम यहाँ प्रसाद लगाते है तो वह तुरन्त खाता है। हम यहाँ स्तुति करते है तो वह सुनता है। हमारी प्रत्येक क्रियाको वह देखता है परन्तु हम उसे नही देख सकते। इसपर यह प्रश्न होता है कि एक ही पुरुषकी सब जगह सब इन्द्रियाँ कैसे रहती है? आँख है, वहाँ नाक कैसे हो सकती है? इसके उत्तरमे यही कहा जा सकता है कि यह बात तो ठीक है, परन्तु परमात्मा इससे विलक्षण है। वह कुछ अलौकिक शक्ति है; उसमे सब कुछ सम्भव है। मान लीजिये एक सोनेका ढेला है, उसमे कड़े, बाजूबंद, कण्ठी आदि सभी गहने सभी जगह है। जहाँ इच्छा हो

वहीसे सव चीजे मिल सकती है, इसी प्रकार वह एक ऐसी वस्तु है जिसमे सब जगह सभी वस्तुएँ व्यापक हैं, सभी उसमेंसे निकल सकती है, वह सब जगहकी और सबकी बातोंको एक साथ सुन सकता है और सबको एक साथ देख सकता है।

स्वप्न मे आँख, कान, नाक वगैरह न होनेपर भी अन्तःकरण स्वय सब क्रियाओंको आप ही करता और आप ही देखता-सुनता है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सभी कुछ बन जाता है, इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति भी बड़ी विलक्षण है, वह सब जगह सब कुछ करने मे सर्वथा समर्थ है। यही तो उसका ईश्वरत्व और विराट स्वरूप है ।

साकाररूप उस परमेश्वरका समस्त ब्रह्माण्ड शरीर है, जैसे वर्फ जलका शरीर है परन्तु उससे अलग नही है। इसी प्रकार क्या संसार भी वस्तुतः ऐसा ही है ? क्या शरीर भी परमात्मा है।

इसके उत्तरमे यही कहना पड़ता है कि है भी और नही भी। इस शरीरकी कोई सेवा करता या आराम पहुँचाता है, तव मै उसे अपनी सेवा और अपने को आराम पहुँचता है, ऐसा मानता हूँ, परन्तु वस्तुतः मै शरीर नही हूँ; मैं आत्मा हूँ, पर जवतक मैं इस साढ़े तीन हाथकी देहको 'मैं' मानता हूँ, तवतक वह मैं हूँ। इस स्थितिमे चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, सवको उसकी सेवा करनी चाहिये, उसकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है; संसारको सुख पहुँचाना ही परमात्माको सुख पहुँचाना है और जव मैं यह शरीर नही हूँ, तव यह ब्रह्माण्डरूपी शरीर भी ईश्वर नहीं है। यह अपना शरीर

है तभीतक वह उसका शरीर है। हम सब उसके अंश है, तो वही अंशी है। वास्तवमे अन्तमें हम आत्मा ही ठहरते है, शरीर नही। परन्तु जबतक ऐसा नही है तबतक इसी चालसे चलना चाहिये। यथार्थ ज्ञान होनेपर तो एक शुद्ध ब्रह्म ही रह जायगा।

इस न्यायसे निराकार-साकार सब एक ही वस्तु है। जगत् परमेश्वरमे अध्यारोपित है। महात्मा लोग ऐसा ही कहते हैं। जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीतिमात्र है, वास्तवमे है नहीं। स्वप्नका ससार अपनेमे प्रतीत होता है, मृगतृष्णाका जल या आकाशमें तिरमिरे प्रतीत होते है, इसी प्रकार परमात्मामे ससारकी प्रतीति होती है। इस बातको महात्मा पुरुष ही जानते है। जागनेपर जागनेवालेको ही स्वप्नके संसारकी असारताका यथार्थ ज्ञान होता है। जबतक यह बात जाननेमे नही आती तबतक उपाय करना चाहिये। उपाय यह है--

निराकार और साकार किसी भी रूपका ध्यान करनेपर जो एक ही परम वस्तु उपलब्ध होती है, उस परमेश्वरकी सब प्रकारसे शरण होकर इन्द्रिय और शरीरसे उसकी सेवा करना, मनसे उसे स्मरण करना, श्वाससे उसका नामोच्चारण करना, कानोंसे उसका प्रभाव सुनना और शरीरसे उसकी इच्छानुसार चलना यही उसकी सेवा है, यही असली भक्ति है और इसीसे आत्माका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

त्यागसे भगवत्-प्राप्ति

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

(गीता ४। २०)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गीता १८। ११)

गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये 'त्याग' ही मुख्य साधन है। अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं।

[१] निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना। यह पहली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एव रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना*। वह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग।

मान, बड़ाई, प्रातिष्ठा एवं स्त्री-पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों उनके वढ़नेकी इच्छाको भगवत्-प्राप्तिमें वाधक समझकर उसका त्याग करना। यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एव बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोसे सेवा करानेके भाव है उन सवका त्याग करना†। यह चौथी श्रेणाका त्याग है।

---

* यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म सयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपमे तो सकाम हो; परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामे किसी प्रकारकी वाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकमग्रहके लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नही है।

† यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्वन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुंचता

(५) संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंमे आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग ।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओ का पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एव शरीर सम्बन्धी खानपान इत्यादि जितने कर्त्तव्यकर्म हैं उन सबमे आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना ।

(क) ईश्वर-भक्तिमें आलस्यका त्याग ।

अपने जीवनका परम कर्तव्य मानकर परम दयालु, सबके सुहृद्, परम प्रेमी, अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन और पठन-पाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यानसहित निरन्तर जप करना ।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग ।

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको क्षणभंगुर, नाशवान् और भगवान्‌की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्‌से प्रार्थना करना और न

हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आनी हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नही है, क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार करनेमे उनको कष्ट होना एवं लोक-मर्यादामे बाधा पड़ना सम्भव है ।

मनमे इच्छा ही रखना। तथा किसी प्रकारका सकट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करना अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायँ; परन्तु इस मिथ्या जीवनके लिए विशुद्ध भक्तिमे कलङ्क लगाना उचित नही है। जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्ट निवारणके लिए भगवान्‌से प्रार्थना नही की।

अपना अनिष्ट करनेवालो को भी 'भगवान् तुम्हारा बुरा करे' इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे सराप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना।

भगवान्‌की भक्तिके अभिमानमे आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि 'भगवान् तुम्हे आरोग्य करे', 'भगवान् तुम्हारा दुःख दूर करे', 'भगवान् तुम्हारी आयु वढ़ावे' इत्यादि।

पत्र-व्यवहारमे भी सकाम शव्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे 'अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै', 'ठाकुरजी बिक्री चलासी', 'ठाकुरजी वर्षा करसी', 'ठाकुरजी आराम करसी' इत्यादि सांसारिक वस्तुओके लिए ठाकुरजीसे प्रार्थना करनेके रूपमें सकाम शव्द मारवाड़ी समाजमे प्रायः लिखे जाते है। वैसे न लिखकर 'श्रीपर-मात्मदेव आनन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान है', 'श्रीपरमेश्वरका भजन सार है' इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शव्द लिखना तथा इसके सिवा अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने, वोलने आदिमे सकाम शव्दोका प्रयोग न करना।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओ-

को पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम कर्तव्य है ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़-वहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ी समाजमें नये वसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजीका पूजन करके 'श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी', 'भण्डार भरपूर राखसी' 'ऋद्धि सिद्धि करसी', 'श्रीकालीजीके आसरे', 'श्रीगङ्गाजीके आसरे' इत्यादि बहुत-से सकाम शब्द लिखे जाते है। वैसे न लिखकर 'श्रीलक्ष्मीनारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान है, तथा 'वहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया' इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड,नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपर्युक्त रीतिसेही लिखना।

(घ) माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग।

माता, पिता, आचार्य एव और भी जो पूजनीय पुरुष वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोमे किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हो उन सवकी सव प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है, इस भावको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके, निष्कामभावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमे तत्पर रहना।

[ङ] यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

पञ्च महायज्ञादि* नित्यकर्म एव अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा सपूर्ण जीवोको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना इत्यादि शास्त्रविहित कर्मोमे इस लोक और परलोकके सपूर्ण भोगों-की कामनाका सर्वथा त्याग करके एव अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ ही उसका आचरण करना।

[च] आजीविकाद्वारा गृहस्थ-निर्वाहके उपयुक्त कर्मोमें आलस्य और कामनाका त्याग।

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्यादि कहे हैं वैसे ही जो अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार शास्त्रमें विधान किये गये हों उन सबके पालनद्वारा ससारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभ-

* पञ्च महायज्ञ यह है—देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषियज्ञ (वेदपाठ, सन्ध्या, गायत्रीजपादि), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्धादि), मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सेवा) और भूतयज्ञ (वलिवैश्व)।

हानिको समान समझते हुए सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपर्युक्त कर्मोंका करना।*

(छ) शरीरसम्बन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शरीर-निर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन-वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसम्बन्धी कर्म हैं उनमें सब प्रकारके भोगविलासोंकी कामनाका त्याग करके एव सुख, दुःख, लाभ, हानि और जीवन, मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पाँचवीं श्रेणीके त्यागानुसार सम्पूर्ण दोषोंका और सब प्रकारकी कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत्-प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहिली भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

---

* उपर्युक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमे किसी प्रकारका भी दोष नही आ सकता; क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमे लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि 'गीताप्रेस, गोरखपुर' से प्रकाशित साधारण भाषाटीका गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमे जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है उसी प्रकार अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार सपूर्ण कर्मोंमे सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्काम भावसे ही सम्पूर्ण कर्मोंका आचरण करे।

(६) संसारमें सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आशक्तिका सर्वथा त्याग ।

धन, भवन और वस्त्रादि संम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सपूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ है उन सबको क्षणभगुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आशक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमे और शरीरमे भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना । यह छठी श्रेणीका त्याग है। *

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्य हुए पुरुषोका ससारके सपूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्मे ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिए उनको भगवान्के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विपयकी कथाओंका सुनना-

---

* सपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंसे तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पाँचवी श्रेणीके त्यागमे कहा गया, परन्तु उपर्युक्त त्यागके होनेपर भी उनमे ममता और आसक्ति शेप रह जाती है। जैसे भजन, ध्यान और सत्सङ्गके अभ्याससे भरतमुनिका सपूर्ण पदार्थोंमे और कर्मोंमे तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग होनेपर भी हरिणमे और हरिणके पालन-रूप कर्ममे ममता और आसक्ति वनी रही। इसलिये ससारके सपूर्ण पदार्थोंमे और कर्मोंमे ममता और आसक्तिके त्यागको छठी श्रेणीका त्याग कहा है।

सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-भोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नही लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म भगवान्के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही विना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोमें और कर्मोमे ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामे परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुपके लक्षण समझने चाहिये।

[७] ससार, शरीर और संपूर्ण कर्मोमें सूक्ष्म वासना और अहभावका सर्वथा त्याग।

ससारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं ऐसा दृढ निश्चय होकर शरीरसहित ससारके सम्पूर्ण पदार्थोमें और सम्पूर्ण कर्मोमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्त.करणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एव शरीरमें अहभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोमे कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र

भी न रहना। यह सातवी श्रेणीका त्याग है*।

इस सातवी श्रेणीके त्यागरूप परवैराग्यको† प्राप्त हुए पुरुषोके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण ससारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक स्फुरणा हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नही जमते; क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्द धन वासुदेव परमात्मामे ही अनन्यभावसे गाढ़ स्थिति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये उनके अन्तःकरणमे सपूर्ण अवगुणोका अभाव होकर अहिंसा[1], सत्य[2], अस्तेय[3], ब्रह्मचर्य[4], अपैशुनता[5], लज्जा,अमानित्व,

---

*संपूर्ण ससारके पदार्थोमे और कर्मोमे तृष्णा और फलकी इच्छाका एव ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमे सूक्ष्म वासना और कर्तव्य अभिमान शेप रह जाता है इमलिये सूक्ष्म वासना और अहभावके त्यागको सातवी श्रेणीका त्याग कहा है।

† पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोका विशेप संसर्ग होनेसे कदाचित् उसमे कुछ आसक्ति हो भी सकती है, परन्तु इस सातवी श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोके साथ ससर्ग होनेपर भी उसमे आसक्ति नही हो सकती, क्योकि उसके निश्चयमे एक परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नही, इसलिये इस त्यागको परवैराग्य कहा है।

१ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना।

२ अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा, जैसा निश्चय किया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोमे कहना।

३ चोरीका सर्वथा अभाव।

४ आठप्रकारके मैथुनोका अभाव।

५ किसीकी भी निन्दा न करना।

६ सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना।

निष्कपटता, शौच[1], सन्तोष[2], तितिक्षा[3], सत्सङ्ग, सेवा, यज्ञ, दान, तप[4], स्वाध्याय[5], शम[6], दम[7], विनय, आर्जव[8], दया[9], श्रद्धा[10], विवेक[11], वैराग्य[12], एकान्तवास, अपरिग्रह[13],

---

१ बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य वर्तावसे आचरणोकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और राग, द्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर, अन्त करणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना, भीतरकी शुद्धि कहलाती है) ।

२ तृष्णाका सर्वथा अभाव ।

३ शीत, उष्ण, सुख-दु.खादि द्वन्द्वोका सहन करना ।

४ स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना ।

५ वेद और सत्-शास्त्रोका अध्ययन एव भगवान्के नाम और गुणोका कीर्तन ।

६ मनका वश मे होना ।

७ इन्द्रियोका वशमे होना ।

८ शरीर और इन्द्रियोके सहित अन्त करणकी सरलता ।

९ दु.खियोमे करुणा ।

१० वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोमे प्रत्यक्षके सदृश विश्वास ।

११ सत् और असत् पदार्थ ज्ञान ।

१२ ब्रह्मलोकतकके संपूर्ण पदार्थोंमे आसक्तिका अत्यन्त अभाव ।

१३ ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव ।

समाधान[1], उपरामता, तेज[2], क्षमा,[3] धैर्य[4], अद्रोह[5], अभय[6], निरहंकारता, शान्ति[7] और ईश्वरमे अनन्तभक्ति इत्यादि सद्‌गुणोका आविर्भाव स्वभावमे ही हो जाता है।

इस प्रकार शरीरसहित सपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोमे वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण है।

उपर्युक्त गुणोमेसे कितने ही तो पहिली और दूसरी भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु सपूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामे ही होता है। क्योकि यह सब भगवत्-प्राप्तिके अति समीप पहुँचे हुए पुरुषोके लक्षण एव भगवत्-स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमे

---

१ अन्त करणमे संशय और विक्षेपका अभाव।

२ श्रेष्ठ पुरुषोकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्राय पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोमे प्रवृत्त हो जाते है।

३ अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना।

४ भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना।

५ अपने साथ द्वेष रखनेवालोमे भी द्वेपका न होना।

६ सर्वथा भयका अभाव।

७ इच्छा और वासनाओका अत्यन्त अभाव होना और अन्त.करणमे नित्य-निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

हेतु हैं। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान्‌ने प्राय इन्ही गुणोंको श्रीगीता-जीके १३वें अध्यायमें (श्लोक ७ से ११ तक) ज्ञानके नामसे तथा १६वें अध्यायमे (श्लोक १ से ३ तक) दैवी सम्पदाके नामसे कहा है।

तथा उक्त गुणोको शास्त्रकारोंने सामान्य धर्म माना है इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमे अधिकार है, अतएव उपर्युक्त सद्‌गुणोका अपने अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्‌के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

इस लेखमे सात श्रेणियोके त्यागद्वारा भगवत्-प्राप्तिका होना कहा गया है। उनमे पहिली ५ श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके लक्षण तथा सातवी श्रेणीके त्यागतक तीसरी भूमिकाके लक्षण वताये गये है। उक्त तीसरी भूमिकामेपरिपक्व अवस्थाकोप्राप्तहुआपुरुष तत्तकाल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका इस क्षणभगुर नाशवान् अनित्य ससारसे कुछ भी सम्वन्ध नही रहता अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्न ससारसे कुछ भी सम्वन्ध नही रहता, वैसे ही अज्ञाननिद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नही रहता। यद्यपि लोक-दृष्टिमे उस ज्ञानीपुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे संपूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते है एव उन कर्मोद्वारा ससारमें बहुत ही लाभ पहुँचता है। क्योंकि कामना,आसक्ति और कर्तृत्व-अभिमानसे रहित

होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते है, परन्तु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ। पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा ही करता है। क्योंकि सुख-दु ख, लाभ हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एव मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है। इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमे हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमे अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता। क्योंकि उसके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण ससार मृगतृष्णाके जलकी भाँति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नही भासता। विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदा-नन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसीका भी

सामर्थ्य नही है। अतएव जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर उक्त सात श्रेणियोंमें कहे हुए त्यागद्वारा परमात्माको प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये। क्योंकि यह अति दुर्लभ मनुष्यका शरीर बहुत जन्मोंके अन्तमें परम दयालु भगवान्की कृपासे ही मिलता है, इसलिये नाशवान् क्षणभंगुर संसारके अनित्य भोगोंको भोगनेमे अपने जीवनका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिये।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हरि. ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

———

शरणागति

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८ । ६२)

मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य आत्यन्तिक आनन्द की प्राप्ति है, आत्यन्तिक आनन्द परमात्मामें है । अतएव परमात्माकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है । इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये शास्त्रकारों और महात्माओंने अधिकारीके अनुसार अनेक उपाय और साधन बतलाये हैं; परन्तु विचार करनेपर उन समस्त साधनोंमें परमात्माकी शरणागतिके समान सरल, सुगम, सुखसाध्य साधन अन्य कोई-सा भी नही प्रतीत होता । इसीलिये प्राय: सभी शास्त्रोंमें इसकी प्रशंसा की गयी है । श्रीमद्भगवद्गीता-मे तो उपदेशका आरम्भ और पर्यवसान दोनों ही शरणागतिमें होते है । पहले अर्जुन 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मांत्वां प्रपन्नम्' (गीता २ ।७) 'मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ, मुझे यथार्थ उपदेश दीजिये' ऐसा कहता है, तब भगवान् उपदेशका आरम्भ करते है और अन्तमें उपदेशका उपसंहार करते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८ । ६६)

सम्पूर्ण धर्मोको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोके आश्रयको त्यागकर केवल मुझ एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो । मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर ।

इससे पहले भी भगवान्‌ने शरणागतिको जितना महत्त्व दिया है उतना अन्य किसी भी साधनाको नही दिया । जाति या आचरणसे कोई कैसा भी नीच या पापी क्यो न हो, भगवान्‌की शरणमात्रसे ही वह अनायास परमगतिको प्राप्त हो जाता है ।

भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(गीता ९ । ३२)

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्रादि और पापयोनिवाले भी जो कोई होवे, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते है ।

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

(कठ० १ । २ । १६-१७)

यह अक्षर ही ब्रह्मस्वरूप है, यह अक्षर ही पररूप है, इस अक्षरको ही जानकर जो पुरुष जैसी इच्छा करता है, उसको वह ही प्राप्त होता है। इस अक्षरका आश्रय (शरण) श्रेष्ठ है। यह आश्रय सर्वोत्कृष्ट है, इस आश्रयको जानकर (वह) ब्रह्मलोकमें पूजित होता है।

महर्षि पतञ्जलि अन्यान्य सब उपायोंसे इसीको सुगम बतलाते हुए कहते है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

(योगदर्शन १। २३)

ईश्वरकी शरणागतिसे समाधिकी प्राप्ति होती है। आगे चलकर पतञ्जलि इसका फल बतलाते है—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योगदर्शन १। २९)

उस ईश्वरप्रणिधानसे परमात्माकी प्राप्ति और (साधनमें आनेवाले) सम्पूर्ण विघ्नोंका भी अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भगवान् श्रीरामने घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

यह तो प्रमाणोका केवल दिग्दर्शनमात्र है। शास्त्रोंमें शरणागतिकी महिमाके असंख्य प्रमाण वर्तमान है। परन्तु विचारणीय विषय तो यह है कि शरणागति वास्तवमें किसे कहते है। केवल मुखसे कह देना कि 'हे भगवन्! मै आपके शरण हूँ',

शरणागतिका स्वरूप नही है। साधारणतया शरणागतिका अर्थ किया जाता है मन, वाणी और शरीरको सर्वतोभावसे भगवान्‌के अर्पण कर देना; परन्तु यह अर्पण भी केवल **'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'** कह देनेमात्रसे सिद्ध नही हो सकता। यदि इसीमें अर्पणकी सिद्धि होती तो अबतक न मालूम कितने भगवान्‌के शरणागत भक्त हो गये होते, इसलिये अब यह समझना चाहिए कि अर्पण किसे कहते है।

शरण, आश्रय, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अवलम्बन निर्भरता और आत्मसमर्पण आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थके बोधक है।

एक परमात्माके सिवा किसीका किसी भी कालमे कुछ भी सहारा न समझकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और ससारमे अहता-ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना और भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोका निःस्वार्थभावसे केवल भगवान्‌के लिये ही आचरण करते रहना, यही 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण' होना है।

इस शरणागतिमे प्रधानतः चार बाते साधकके लिए समझनेकी हैं।

(१) सब कुछ परमात्माका समझकर उसके अर्पण करना।

(२) उसमें प्रत्येक विधानमे परम सतुष्ट रहना।

(३) उसकी आज्ञानुसार उसीके लिये समस्त कर्तव्य-कर्म करना।

(४) नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही उसका एकतार स्मरण रखना।

इन चारोपर कुछ विस्तारसे विचार कीजिये।

सर्वस्व-अर्पण

सब कुछ परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ घर-द्वार छोड़कर सन्यासी हो जाना या कर्तव्यकर्मोका त्याग कर कर्महीन हो बैठना नही है। ससारिक वस्तुओपर हमने भूलसे जो ममता आरोपित कर रक्खी है यानी उनमें जो अपनापन है उसे उठा देना। यही उसकी वस्तु उसके अर्पण कर देना है। वस्तु तो उसीकी है, हमसे छिन भी जाती है; परन्तु हम उन्हें भ्रमसे अपनी मान लेते है, इसीसे छिननेके समय हमे रोना भी पड़ता है।

एक धनी सेठका बड़ा कारोबार है, उसपर एक मुनीम काम करता है। सेठने उसको ईमानदार और कर्तव्यपरायण समझकर सम्पत्तिकी रक्षा, व्यापारके सचालन और नियमानुसार व्यवहार करनेका सारा भार सौप रक्खा है। अब मुनीमका यही काम है कि वह मालिककी किसी भी वस्तुपर अपना किञ्चित् भी अधिकार न समझकर, किसीपर ममता या अहंकार न रखकर मालिककी आज्ञा और उसकी नियत की हुई विधिके अनुसार समस्त कार्य

बड़ी दक्षता, सावधानी और ईमानदारीके साथ करता रहे। करोड़ोका लेन-देन करे, करोड़ोकी सम्पत्तिपर मालिककी भाँति अपनी सँभाल रक्खे, मालिकके नामसे हस्ताक्षर करे; परन्तु अपना कुछ भी न समझे। मूल-धन मालिकका, कारोबारमें होनेवाला मुनाफा मालिकका और नुकसानका उत्तरदायित्व भी मालिकका।

यदि वह मुनीम कही भूल, प्रमाद या बेईमानीसे मालिकके धनको अपना समझकर अपने [काममे लाना चाहे, मालिककी सम्पत्ति या नफेकी रकमपर अधिकार कर ले तो वह चोर, बेईमान या अपराधी समझा जाता है। न्यायालयमे मुकद्दमा जानेपर वह सम्पत्ति उससे छीन ली जाती है, उसे कठोर दण्ड मिलता है और उसके नामपर इतना कलङ्क लग जाता है जिससे वह सबमे अविश्वासी समझा जाकर सदाके लिये दुखी हो जाता है। इसी प्रकार यदि मालिककी कोठीका भार सँभालकर वह काम करनेसे जी चुराता है, मालिकके नियमोको तोड़ता है तो भी वह अपराधी होता है, अतएव मुनीमके लिये यह दोनों ही बाते निषिद्ध हैं।

इसी तरह यह समस्त जगत् उस परमात्माका है, वही यावन्मात्र पदार्थोका उत्पन्न करनेवाला, वही नियन्त्रणकर्ता, वही आधार और वही स्वामी है। उसीने हमको हमारे कर्मवश जैसी योनि, जो स्थिति मिलनी चाहिये थी उसीमें उत्पन्न कर अपनी कुछ वस्तुओकी सँभाल और सेवाका भार दे दिया है और हमारे लिये कर्तव्यकी विधि भी वतला दी है; परन्तु हमने भ्रमसे परमात्माके पदार्थोको अपना मान लिया है, इसीलिये हमारी दुर्गति होती है।

यदि हम अपनी इस भूलको मिटाकर यह समझ ले कि जो कुछ है सो परमात्माका है, हम तो उसके सेवकमात्र है, उसकी सेवा करना ही हमारा धर्म है; तो वह परमात्मा हमें ईमानदार समझकर हमपर प्रसन्न होता है और हम उसकी कृपा और पुरस्कारके पात्र होते हैं। मायाके बन्धनसे छूटना ही सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो कुछ है सो परमात्माका है, इस बुद्धिके आ जानेपर ममता चली जाती है और जो कुछ है सो परमात्मा ही है, इस बुद्धिसे अहकार-का नाश हो जाता है—यानी एक परमात्माको ही जगत्का उपादान और निमित्त-कारण समझ लेनेसे उसमें ममता और अहंकार (मै और मेरा) नष्ट हो जाता है। 'मैं-मेरा' ही बन्धन है, भगवान्का शरणागत भक्त 'मैं-मेरा' के बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मासे कहता है कि बस, केवल एक तू ही है और सब तेरा ही है।

यही अर्पण है, इस अर्पणकी सिद्धि हो जानेपर साधक बन्धन-मुक्त हो जाता है, उसे किसी प्रकारकी कोई चिन्ता नही रहती। जो चिन्ता करता है, अपनेको वँधा हुआ मानता है, बन्धनसे मुक्ति चाहता है, वह वास्तवमें परमात्माके तत्त्वको जानकर उनके शरण नही हुआ। अपने उद्धारकी चिन्ता तो शरणागतिके साधकके चित्तसे भी चली जाती है। वास्तवमें बात भी यही है। शरण ग्रहण करनेपर भी यदि शरणागतको चिन्ता करनी पड़े तो वह शरण ही कैसी? जो जिसकी शरण होता है उसकी चिन्ता उसके स्वामीको ही रहती है।

जो जाको शरणो गहै, ताकहँ ताकी लाज।
उलटै जल मछली चलै, बह्यो जात गजराज॥

जब कबूतरके शरणापन्न हो जानेपर दया और शरणागत-वत्सलताके वशीभूत हो महाराज शिवि अपने शरीरका मांस देकर उसकी रक्षा कर सकते हैं तब वह परमेश्वर जो अनाथोंका नाथ है, दयाका अनन्त अथाह सागर है, जगत्के इतिहासमे शरणागत-वत्सलताकी बड़ी-से-बड़ी घटना जिसकी शरणागत-वत्सलताके सामने सागरकी तुलनामें एक जलकणके सदृश भी नही है, क्या शरण होने पर वह हमारी रक्षा और उद्धार न करेगा ? यदि इतनेपर हमारे मनमे अपने उद्धारकी चिन्ता होती है और हम अपनेको शरणागत भी समझते है तो यह हमारी नीचता है, हम शरणागतिका रहस्य ही नहीं समझते। वास्तव में शरणागत भक्तको उद्धार होने-न-होनेसे मतलब ही क्या है ? वह तो अपने आपको मन-बुद्धिसहित उसके चरणोमें समर्पितकर सर्वथा निश्चिंत हो जाता है, उसे उद्धारकी परवा ही क्यों होने लगी ? शरणागतिके रहस्यको समझनेवाले भक्तके लिये उद्धारकी चिन्ता करना तो दूर रहा, वह इस प्रसङ्गकी स्मृतिको भी पसन्द नही करता। यदि भगवान् स्वय कभी उसे उद्धारकी बात कहते है तो वह अपनी शरणागतिमे त्रुटि समझकर लज्जित और सकुचित होकर अपनेको धिक्कारता है। वह समझता है कि यदि मेरे मनमे कही मुक्तिकी इच्छा छिपी हुई न होती तो आज इस अप्रिय प्रसङ्गके लिये अवसर ही क्यो आता ? मुक्ति तो भगवत्प्रेमका पासँगमात्र है, उस प्रेम-धनको छोड़कर पासँगकी इच्छा करना अत्यन्त लज्जाका विषय है। मुक्तिकी इच्छाको कलङ्क समझकर और अपनी दुर्बलता तथा

नीचाशयताका अनुभवकर भगवान्‌पर अपना अविश्वास जानकर वह परमात्माके सामने एकान्तमे रोकर पुकार उठता है कि—

'हे प्रभो ! जबतक मेरे हृदयमे मुक्तिकी इच्छा बनी हुई है तबतक मैं आपका दास कहाँ ? मैं तो मुक्तिका ही गुलाम हूँ। आपको छोड़कर अन्यकी आशा करता हूँ, मुक्तिके लिये आपकी भक्ति करता हूँ। और इतनेपर भी अपनेको निष्काम प्रेमी शरणागत भक्त समझता हूँ। नाथ ! यह मेरा दम्भाचरण है। स्वामिन् ! दयाकर इस दम्भका नाश कीजिये। मेरे हृदयसे मुक्तिरूपी स्वार्थ-की कामनाका भी मूलोच्छेदकर अपने अनन्य प्रेमकी भिक्षा दीजिये। आप-सरीखे अनुपमेय दयामय से कुछ माँगना अवश्य ही लड़कपन है; परन्तु आतुर क्या नही करता ?'

इस तरहसे शरणागत भक्त सब कुछ भगवदर्पण कर सब प्रकारसे निश्चित हो रहता है।

भगवान्‌के प्रयेक विधानमें सन्तोष

इस अवस्थामे जो कुछ होता है वह उसीमे सन्तुष्ट रहता है। प्रारब्धवश अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी लाभ-हानि, सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है वह उसको परमात्माका दयापूर्ण विधान समझकर सदा समानभावसे सन्तुष्ट, निर्विकार और शान्त रहता है। गीतामे कहा है –

> यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सर. ।
> समः सिद्धावसिद्धौ च कृतवापि न निबध्यते ॥
>
> (४ । २२)

अपने आप जो कुछ आ प्राप्त हो, उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्ष्यासे रहित सिद्धि और असिद्धिमें समत्वभाववाला पुरुष कर्मोंको करके भी नही बँधता है।

वास्तवमें शरणागत भक्त इस तत्त्वको जानता है कि दैवयोगसे जो कुछ आ प्राप्त होता है वह ईश्वरके न्यायसङ्गत विधान और उसकी दयापूर्ण आज्ञासे होता है। इससे वह उसे परम सुहृद् द्वारा भेजा हुआ इनाम समझकर आनन्दसे मस्तक झुकाकर ग्रहण करता है। जैसे कोई प्रेमी सज्जन अपने किसी प्रेमी न्यायकारी सुहृद् सज्जनके द्वारा किये हुए न्यायको अपनी इच्छासे प्रतिकूल फैसला होनेपर भी उस सज्जनकी न्यायपरायणता, विवेकबुद्धि, विचारशीलता, सौहार्द, पक्षपातहीनता और प्रेमपर विश्वास रखकर हर्षके साथ स्वीकार कर लेता है, इसी प्रकार शरणागत भक्त भगवान्के कड़े-से-कड़े विधानको सहर्ष सादर स्वीकार करता है; क्योंकि वह जानता है, मेरा सुहृद् अकारण करुणाशील भगवान् जो कुछ विधान करता है उसमें उसकी दया, प्रेम, न्याय और मेरी मङ्गलकामना भरी रहती है। वह भगवानके किसी भी विधानपर कभी भूलकर भी मन मैला नही करता।

कभी-कभी भगवान् अपने शरणागत भक्तकी कठिन परीक्षा भी लिया करते हैं, वे सब कुछ जानते है, तीनों कालकी कुछ भी बात उनसे छिपी हुई नही है तथापि भक्तके हृदयसे मान, अहंकार, दुर्बलता आदि मलोंको हरकर उसे निर्मल बनाने और उसे परिपक्व कर उसका परम हित करनेके लिये परीक्षा की लीला किया करते हैं।

जो परमात्माके प्रेमी सज्जन शरणागतिके तत्त्वको समझ लेते है उन्हे तो कोई भी विषय अपने मनसे प्रतिकूल प्रतीत ही नही होता। बाजीगरकी कोई भी चेष्टा उसके झमूरेको अपने मनसे प्रतिकूल या दु.खदायक नही दीखती। वह अपने स्वामीकी इच्छाके अधीन होकर बड़े हर्षके साथ उसकी प्रत्येक क्रियाको स्वीकार करता है। इसी प्रकार भक्त भी भगवान्‌की प्रत्येक लीलामे प्रसन्न रहता है। वह जानता है कि यह सब मेरे नाथकी माया है। वे अद्‌भुत खिलाड़ी नाना प्रकारके खेल करते है। मुझपर तो उनकी अपार दया है जो उन्होंने अपनी लीलामें मुझे साथ रक्खा है—यह मेरा बड़ा सौभाग्य है जो मैं उस लीलामयकी लीलाओंका साधन बन सका हूँ, यों समझकर वह उसकी प्रत्येक लीलामें, उसके प्रत्येक खेलमे उसकी चातुरी और उसके पीछे उसका दिव्य दर्शनकर पद-पदपर प्रसन्न होता है। यह तो सिद्ध शरणागत भक्तकी बात है, परन्तु शरणागतिका साधक भी प्रत्येक सुख-दुःखको उसका दया-पूर्ण विधान मानकर प्रसन्न होता है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि सुखकी प्राप्तिमे तो प्रसन्न होना स्वाभाविक और युक्तियुक्त है परन्तु दुःखमे सुखकी तरह प्रसन्न होना कैसे सम्भव ह? इसका उत्तर यह है कि परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषकी दृष्टिमे तो सुखकी प्राप्तिसे होनेवाली प्रसन्नता और शान्ति भी विकार ही है। वह तो पुण्य-पापवश प्राप्त होनेवाले अनुकूल या प्रतिकूल विषयजन्य सुख-दु.ख दोनोंसे ही अतीत है, परन्तु साधनकालमे भी प्रसन्नता तो होनी ही चाहिये। जैसे कठिन रोगके समय बुद्धिमान् रोगी सद्-वैद्यद्वारा दी हुई अत्यन्त कटु उपयोगी ओषधिका सहर्ष सेवन करता

है और वैद्यका बड़ा उपकार मानता है, इसी प्रकार निःस्वार्थी वैद्यरूप परम सुहृद् परमात्माद्वारा विधान किये हुए कष्टोंको सहर्ष स्वीकार करते हुए उसकी कृपा और सदाशयताके लिये ऋणी होकर सुखी होना चाहिये। भगवान्का प्रिय प्रेमी 'शरणागत भक्त महान् दुःखरूप फलको बड़े आनन्दके साथ भोगता हुआ पद-पदपर उसकी दयाका स्मरणकर परम प्रसन्न होता है। वह समझता है कि दयालु डाक्टर जैसे पके हुए फोड़ेमें चीरा देकर सड़ी हुई मवादको बाहर निकालकर उसे रोगमुक्त कर देता है, इसी प्रकार भगवान् भक्तके हितार्थ कभी-कभी कष्टरूपी चीरा लगाकर उसे नीरोग बना देते है। इसमे उनकी दया ही भरी रहती है। यह समझकर भक्त अपने भगवान्के प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहता है, वह दुःखसे उद्विग्न नही होता और सुखकी स्पृहा नही करता 'दु खेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेपु विगतस्पृह ।' (गीता २ । ५६)

भगवान्की आज्ञानुसार कर्म

इसीलिये सुखकी इच्छा न रहनेके कारण वह आसक्ति या कामनावश कोई भी निषिद्ध कार्य नही कर सकता। उसका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी आज्ञानुसार होता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके प्रतिकूल नही होती, क्योंकि परमात्माकी इच्छा-में वह अपनी इच्छा मिला देता है, वह अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नही रखता। जब कि एक साधारण श्रद्धालु सेवक भी अपने स्वामीके प्रतिकूल कोई कार्य करना नही चाहता, कभी भूलसे कोई विपरीत आचरण हो जाता है तो वह लज्जित-सकुचित होकर अपनी भूलपर अत्यन्त पश्चात्ताप करता है, तब भला निष्काम प्रेमभावसे शरणमे

आया हुआ श्रद्धालु ईश्वरभक्त परमात्माके प्रतिकूल किञ्चिन्मात्र कार्य भी कैसे कर सकता है ? जैसे सतीशिरोमणि पतिव्रता स्त्री अपने परम प्रिय पतिकी भ्रुकुटीकी ओर ताकती हुई सदा-सर्वदा पतिके अनुकूल ही उसकी छायाके समान चलती है, उसी प्रकार ईश्वरप्रेमी शरणागत भक्त भगवदिच्छाका अनुसरण करता है, सब कुछ उसीका समझकर उसीके लिये कार्य करता है ।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वर सबके प्रत्यक्ष नही है तब ईश्वरकी आज्ञा या इच्छाका पता कैसे लगे ? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो शास्त्रोकी आज्ञा ही एक प्रकारसे ईश्वरकी आज्ञा है, क्योंकि त्रिकालज्ञ भक्त ऋषियोने भगवान्का अभिप्राय समझकर ही प्राय शास्त्रोका निर्माण किया है । दूसरे श्रीमद्भगवद्-गीता-जैसे ग्रन्थोंमे भगवदाज्ञा प्रत्यक्ष ही है । इसके सिवा भगवान् सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी होनेसे सबके हृदयमे सदा प्रत्यक्ष विद्यमान है । मनुष्य यदि स्वार्थ छोड़कर सरल जिज्ञासु-भावसे हृदय स्थित ईश्वरसे पूछे तो उसे साधारणतया यथार्थ उत्तर मिल ही जाता है । झूठ बोलने, चोरी करने या हिंसादि करनेके लिये किसीका भी हृदय सच्चे भावसे आज्ञा नही देता । यही भगवान्की इच्छाका सकेत है ।

अन्तःकरणपर अज्ञानका विशेष आवरण होनेके कारण जिस प्रश्नके उत्तरमे शंकायुक्त जवाब मिले, जिसके निर्णय करनेमे हमारी बुद्धि समर्थ न हो, उस विषयमे धर्मके तत्त्वको जाननेवाले स्वार्थ रहित सदाचारी पुरुषोसे पूछकर निर्णय कर लेना चाहिये । जिस विषयमें अपने मनमें शका न हो, उस विषयमे भी उत्तम पुरुषोसे परामर्श कर लेना तो लाभदायक ही है, क्योकि जबतक मनुष्य

परमात्माको तत्त्वसे नही जान लेता तबतक भ्रमसे कही-कही असत्यका सत्यके रूपमे प्रतीत हो जाना सम्भव है, इसलिये निर्णीत विषयोको भी सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे मार्जन कर लेना उचित है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर परमात्माका सकेत यथार्थ समझमें आने लगता है। फिर साधक जो कुछ करता है सो सब प्रायः ईश्वरके अनुकूल ही करता है।

यह देखा जाता है कि मालिककी इच्छानुसार वर्तनेवाला स्वामिभक्त सेवक जो सदा मालिकके इशारेके अनुसार काम करता है वह मालिकके भावको तनिक-से इशारेमात्रसे ही समझ लेता है। जब साधारण मनुष्योमे ऐसा होता है तब एक ईश्वरका शरणागत भक्त श्रद्धा, विश्वास और प्रेमके बलसे ईश्वरके तात्पर्यको समझने लगे, इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

ईश्वरकी इच्छा समझनेके लिये एक बात और है। यह समझ लेना चाहिये कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, दयासागर, सबका आत्मा और सबके हितमें रत है। अतएव किसी भी जीवका किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमे अहित या अनिष्ट करनेमे उसकी सम्मति नही हो सकती, इसलिये जिस कार्यसे यथार्थरूपमे दूसरोंका हित होता हो, वही ईश्वरकी इच्छाके अनुकूल कार्य है और जिससे जीवोंका अनिष्ट होता हो, वह उसकी इच्छाके प्रतिकूल कार्य है।

कुछ लोग भ्रमवश शास्त्र या धर्मकी आड़ लेकर पराये अहित, अनिष्ट या हिंसा आदिको धर्म मान लेते है, परन्तु ऐसा मानना अनुचित है। हिंसा और अहित कभी धर्म या ईश्वरको अभिप्रेत

नहीं हो सकता। अवश्य ही किसीके हितके लिये माता-पिता या गुरुद्वारा स्नेह भावसे अपने बालक या शिष्यको ताड़ना देनेके समान दण्ड आदि देना हिंसामे शामिल नहीं है।

अतएव भक्त प्रत्येक कार्य भगवदिच्छाके अनुकूल ही करता है, जिससे वह कभी पाप या निषिद्ध कर्म तो कर ही नही सकता, उसका प्रत्येक कार्य स्वाभाविक ही सरल, सात्त्विक और लोक-हितकारी होता है; क्योंकि उसका ससारमे न कोई स्वार्थ है, न किसी वस्तुमें आसक्ति है और न किसी कालमे किसीसे उसे भय है।

शरणागत भक्तकी तो बात ही क्या है, भय और पाप तो उसके भी नही रहते जो ईश्वरका यथार्थरूपसे अस्तित्व (होनापन) ही मान लेता है। राजा या राजकर्मचारी निर्जन स्थान और अन्धकारमयी रात्रिमे सब जगह मौजूद नही रहते, परन्तु राज्यकी सत्ताके कारण ही लोग प्राय: नियमविरुद्ध कार्य नही करते। राजकर्मचारी जहाँ रहता है वहाँ तो कानून तोड़ना बड़ा ही कठिन रहता है। जब राजसत्ताका यह प्रताप होता है तब सर्वशक्तिमान् परमात्माको जो सब जगह देखता है, उससे पाप कैसे बन सकते है? ईश्वर सर्वव्यापी होनेके कारण सब जगह उनका रहना सिद्ध ही है। फिर भय भी किस बातका? क्योकि जब एक राजकर्मचारी साथ होनेपर भी कही चोरोका भय नही रहता तब राजराजेश्वर भगवान् जिसके साथ हों उसके लिये भयकी सम्भावना ही कहाँ है। जो अपनेको भक्त कहकर 'परिचय देते हुए भी पापोमें फँसे रहते या बात-बातमें मृत्यु आदिका भय करते है वे यथार्थमें ईश्वरका अस्तित्व ही नही मानते। ईश्वरको माननेवाले तो नित्य निष्पाप और निर्भय रहते है।

भगवान्का निरन्तर चिन्तन

शरणागत साधकको यदि कोई भय रहता है तो वह इसी बातका रहता है कि कहीं उसके चित्तसे प्रियतम परमात्माकी विस्मृति न हो जाय। वास्तवमें वह कभी परमात्माको भूल भी नहीं सकता; क्योंकि परमात्माके चिन्तनका वियोग उससे क्षणमात्रके लिये भी सहा नहीं जाता 'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता' (नारदभक्तिसूत्र १९) सम्पूर्ण कर्म परमात्माके अर्पण करके प्रतिपल उसे स्मरण रखना और क्षणभरकी विस्मृतिसे मणिहीन सर्प या जलसे निकली हुई मछलीकी भाँति परम व्याकुल होकर तड़पने लगना उसका स्वभाव बन जाता है। उसकी दृष्टिमें एकमात्र परमात्मा ही उसका परम जीवन, परम धन, परम आश्रय, परम गति और परम लक्ष्य रह जाता है, प्रतिपल उसके नाम-गुणोंका चिन्तन करना, उसके प्रेममें ही तन्मय हो रहना, बाह्यज्ञान भूलकर उन्मत्त हो जाना, परम उल्लाससे प्रेममें छकना यही उसकी जीवनचर्या बन जाती है।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(श्रीमद्भा० ११।३।३२)

इस प्रकार परमात्माके शरणका तत्त्व जानकर वे भक्त भगवान्‌की तद्रूपताको प्राप्त हो जाते है–

तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।

(गीता ५ । १७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे परमेश्वरपरायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्ति अर्थात्‌ परमगतिको प्राप्त होते है ।' ऐसे ही पुरुषोंके लिये भगवान्‌ने कहा है, मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय. ।।' (गीता ७ । १७) उससे मैं अदृश्य नही होता, वह मु 'से अदृश्य नहीं होता । 'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।' (गीता ६ । ३०)

ऐसे पुरुषके द्वारा शरीरसे जो कुछ क्रिया होती है सो क्रिया नही समझी जाती । आनन्दमें मग्न हुआ वह भगवान्‌का शरणागत भक्त लीलामय भगवान्‌की आनन्दमयी लीलाका ही अनुकरण करता है, अतएव उसके कर्म भी लीलामात्रसे ही है । भगवान्‌ कहते है--

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।

(६ । ३१)

'जो पुरुष एकीभावसे स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब

प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभव में मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ।'

इसलिये वह सबके साथ अपने आत्माके सदृश ही बर्तता है, उससे कभी किसीका अनिष्ट नही हो सकता। ऐसे अभिन्नदर्शी परमात्मपरायण तद्रूप भक्तोंमें कोई तो स्वामी शुकदेवजीकी तरह लोगोंके उद्धारके लिये उदासीनकी भाँति विचरते हैं, कोई अर्जुनकी भाँति भगवदाज्ञानुसार आचरण करते हुए कर्तव्यकर्मोंके पालनमें लगे रहते है, कोई प्रात.स्मरणीया भक्तिमती गोपियोकी तरह अद्भुत प्रेमलीलामें मत्त रहते है और कोई जडभरतकी भाँति जड़ और उन्मत्तवत् चेष्टा करते रहते है।

ऐसे शरणागत भक्त स्वय तो उद्धाररूप है ही और जगत्का उद्धार करनेवाले है ऐसे महापुरुषोके दर्शन, स्पर्शन, भाषण और चिंतनसे ही मनुष्य पवित्र हो जाते है। वे जहाँ जाते है वहीका वातावरण शुद्ध हो जाता है, पृथ्वी पवित्र होकर तीर्थ बन जातीहै, ऐसे ही महापुरुषोंका ससारमें जन्म लेना सार्थक और धन्य है। ऐसे ही महात्माओके लिये यह कहा गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्क० पु० माहे० कौ० ५५। १४०)

अनन्य प्रेम ही भक्ति है

अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति के लिये भगवद्भक्तिके सदृश किसी भी युगमें अन्य कोई भी सुगम उपाय नहीं है। कलियुगमें तो है ही नही। परन्तु यह वात सबसे पहले समझनेकी है कि भक्ति किसे कहते हैं? भक्ति कहनेमे जितनी सहज है, करनेमें उतनी ही कठिन है। केवल वाह्याडम्बरका नाम भक्ति नही है। भक्ति दिखाने की चीज नही, वह तो हृदयका परम गुप्त धन है। भक्ति का स्वरूप जितना गुप्त रहता है उतना ही वह अधिक मूल्यवान् समझा जाता है। भक्तितत्त्वका समझना बड़ा कठिन है। अवश्य ही उन भाग्यवानोको इसके समझनेमें वहुत आयास या श्रम नही करना पडता, जो उस दयामय परमेश्वरके शरण हो जाते हैं। अनन्य शरणागत भक्तको भक्तिका तत्त्व परमेश्वर स्वयं समझा देते हैं। एक वार

भी जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌की शरण हो जाता है, भगवान् उसे अभय कर देते है, यह उनका व्रत है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा ६। १८। ३३)

भगवान्‌की शरणागति एक बड़े ही महत्त्वका साधन है, परन्तु उसमे अनन्यता होनी चाहिए। पूर्ण अनन्यता होनेपर भगवान्‌की ओरसे तुरन्त ही इच्छित उत्तर मिलता है। विभीषण अत्यन्त आतुर होकर एकमात्र श्रीरामके आश्रयमे अपनी रक्षा समझकर श्रीराम-की शरण आता है। भगवान् राम उसे उसी क्षण अपना लेते हैं। कौरवोकी राजसभामे सब तरफसे निराश होकर देवी द्रौपदी ज्योंही अशरण-शरण श्रीकृष्णको स्मरण करती है त्यों ही चीर अनन्त हो जाता है। अनन्य शरणके यही उदाहरण है। यह शरणागति सांसारिक कष्ट-निवृत्तिके लिये थी। इसी भावसे भक्तोंको भगवान्‌के लिये ही भगवान्‌के शरणागत होना चाहिए। फिर तत्त्वकी उपलब्धि होनेमें विलम्ब नही होगा।

यद्यपि इस प्रकार भक्तिका परम तत्त्व भगवान्‌की शरण होनेसे ही जाना जा सकता है तथापि शास्त्र और संत-महात्माओकी उक्तियोके आधारपर अपना अधिकार न समझते हुए भी अपने चित्तकी प्रसन्नताके लिये मैं जो कुछ लिख रहा हूँ इसके लिये भक्तजन मुझे क्षमा करें।

परमात्मामें परम अनन्य विशुद्ध प्रेमका होना ही भक्ति कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक जगह इसका विवेचन है, जैसे

'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।' (१३ । १०)

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।' (१४ । २६)

आदि । इसी प्रकारका भाव नारद और शाण्डिल्य सूत्रोमे पाया जाता है । अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह है—एक भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें किसी समय भी आसक्ति न हो, प्रेमकी मग्नतामें भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे । जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हों । यो होते-होते अभ्यास बढ जानेपर अपने आपकी विस्मृति होकर केवल एक भगवान् ही रह जायँ । यही विशुद्ध अनन्य प्रेम है । परमेश्वरमे प्रेम करनेका हेतु केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही है—प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय, अन्य कोई हेतु न रहे । मान,बड़ाई, प्रतिष्ठा और इसलोक तथा पर-लोकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनमें न रहे, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी उसका मन कभी न ललचावे । स्वय भगवान् प्रसन्न होकर भोग्य-पदार्थ प्रदान करनेके लिये आग्रह करे तब भी न ले । इस बातके लिये यदि भगवान् रूठ जायँ तो भी परवाह न करे । अपने स्वार्थकी बातें सुनते ही उसे अतिशय वैराग्य और उपरामता हो । भगवान्‌की ओरसे विषयोका प्रलोभन मिलनेपर मनमे पश्चात्ताप होकर यह भाव उदय हो कि 'अवश्य ही मेरे प्रेममें कोई दोष है, मेरे मनमें सच्चा विशुद्ध भाव होता और इन स्वार्थकी बातोंको सुनकर यथार्थमे मुझे क्लेश होता तो भगवान् इनके लिये मुझे कभी न ललचाते ।' विनय, अनुरोध और भय दिखलानेपर भी परमात्माके प्रेमके सिवा किसी भी हालतमे दूसरी वस्तु स्वीकार न करे, अपने प्रेम-हठपर अटल-अचल रहे । वह यही समझता रहे कि

भगवान् जबतक मुझे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर ललचा रहे है और मेरी परीक्षा ले रहे है, तबतक मुझमें अवश्य ही विषयासक्ति है। सच्चा प्रेम होता तो एक अपने प्रेमास्पदको छोड़कर दूसरी बात भी मैं न सुन सकता। विषयोंको देख, सुन और सहनकर रहा हूं। इससे यह सिद्ध है कि मै सच्चे प्रेमका अधिकारी नही हूँ, तभी तो भगवान् मुझे लोभ दिखा रहे है। उत्तम तो यह था कि मैं विषयोंकी चर्चा सुनते ही मूर्छित होकर गिर पड़ता। ऐसी अवस्था नही होती, इसलिये निःसन्देह मेरे लिये हृदयमें कही-न-कही विपय-वासना छिपी हुई है। यह है विशुद्ध प्रेमके ऊंचे साधनका स्वरूप।

ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है। प्रेमकी साधारणतः तीन संज्ञाएं है–गौण, मुख्य और अनन्य। जैसे नन्हें बछड़ेको छोड़कर गौ वनमें चरने जाती है, वहाँ घास चरती है, उस गौका प्रेम घासमे गौण है; बछड़ेमें मुख्य है और अपने जीवनमे अनन्य है, बछड़ेके लिये घासका एव जीवनके लिये वह बछड़ेका भी त्याग कर सकती है। इसी प्रकार उत्तम साधक सासारिक कार्य करते हुए भी अनन्य-भावसे परमात्माका चिन्तन किया करते है। साधारण भगवत्-प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामे लगानेकी कोशिश करते है, परन्तु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोमे चला ही जाता है। जिनका भगवान्में मुख्य प्रेम है वे हर समय भगवान्को स्मरण रखते हुये समस्त कार्य करते है और जिनका भगवान्मे

अनन्य प्रेम हो जाता है उनको तो समस्त चराचर विश्व एक वासुदेवमय ही प्रतीत होने लगता है। ऐसे महात्मा बड़े दुर्लभ है। (गीता ७। १९)

इस प्रकारके अनन्य प्रेमी भक्तोमें कई तो प्रेममे इतने गहरे डूब जाते है कि वे लोकदृष्टिमें पागल-से दीख पड़ते है। किसी-किसीकी बालकवत् चेष्टा दिखायी देती है। उनके सांसारिक कार्य छूट जाते है। कई ऐसी प्रकृतिके भी प्रेमी पुरुष होते है जो अनन्य प्रेममे निमग्न रहनेपर भी महान् भागवत श्रीभरतजीकी भाँति या भक्तराज श्रीहनुमान्‌जीकी भाँति सदा ही 'रामकाज' करनेको तैयार रहते है। ऐसे भक्तोके सभी कार्य लोकहितार्थ होते है। ये महात्मा एक क्षणके लिए भी परमात्माको नही भुलाते, न भगवान् ही उन्हे कभी भुला सकते है। भगवान्‌ने कहा ही है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

गीतामें भक्ति

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्वितीय आध्यात्मिक ग्रन्थ है, यह कर्म, उपासना और ज्ञानके तत्त्वोंका भण्डार है। इस बातको कोई नहीं कह सकता कि गीतामे प्रधानतासे केवल अमुक विषयका ही वर्णन है। यद्यपि यह छोटा-सा ग्रन्थ है और, इसमें सब विषयोका सूत्ररूपसे वर्णन है; परन्तु किसी भी विषयका वर्णन स्वल्प होनेपर भी अपूर्ण नही है, इसलिये कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(महा० भीष्म० ४३ । १)

इस कथनसे दूसरे शास्त्रोका निषेध नही है। यह तो गीताका सच्चा महत्व बतलानेके लिये है, वास्तवमें गीतोक्त ज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर और कुछ जानना शेष नही रह जाता। गीतामें अपने-अपने स्थानपर कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंका विशद और पूर्ण वर्णन होनेके कारण यह नही कहा जा सकता कि इनमें कौन-सा विषय प्रधान और कौन-सा गौण है। सुतरां जिनको जो विषय प्रिय है—जो सिद्धान्त मान्य है, वही गीतामें भासने लगता है।

ालिये भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार
न्न-भिन्न अर्थ किये है, पर उनमेसे किसीको हम असत्य नहीं कह
ते । जैसे वेद परमात्माका निःश्वास है, इसी प्रकार गीता भी
ात् भगवान्के वचन होनेसे भगवत्-स्वरूप ही है । अतएव
वान्की भाँति गीताका स्वरूप भी भक्तोंको अपनी भावनाके
सार भिन्न-भिन्न प्रकारसे भासता है । कृपासिन्धु भगवान्ने
ने प्रिय सखा--भक्त अर्जुनको निमित्त वनाकर समस्त संसारके
ाणार्थ इस अद्भुत गीता-शास्त्रका उपदेश किया है । ऐसे
ा-शास्त्रके किसी तत्त्वपर विवेचन करना मेरे-सदृश साधारण
ष्यके लिये बालचपलतामात्र है । मैं इस विषयमें कुछ कहनेका
ना अधिकार न समझता हुआ भी जो कुछ कह रहा हूँ सो
ल अपने मनोविनोदके लिये है । निवेदन है कि भक्त और
जन मेरी इस बालचेष्टापर क्षमा करे ।

गीतामे कर्म, भक्ति और ज्ञान---तीनो सिद्धान्तोंकी ही अपनी-
नी जगह प्रधानता है तथापि यह कहा जा सकता है कि गीता
भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, इसमें ऐसा कोई अध्याय नही जिसमे
क्तका कुछ प्रसग न हो । गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भक्तिमे
है । आरम्भमे अर्जुन 'शाधि मा त्वा प्रपन्नम्' (२ । ७) कहकर
वान्की शरण ग्रहण करता है और अन्तमे भगवान्
र्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (१८।६६) कहकर शरणागति-
ही पूर्ण समर्थन करते है---समर्थन ही नही, समस्त धर्मोका
श्रय सर्वथा परित्याग कर केवल भगवदाश्रय---अपने आश्रय
के लिये आज्ञा करते है और साथ ही समस्त पापोसे छुटकारा

कर देनेका भी जिम्मा लेते हैं। यह मानी हुई बात है कि शरणागति भक्तिका ही एक स्वरूप है। अवश्य ही गीताकी भक्ति अविवेकपूर्वक की हुई अन्ध भक्ति या अज्ञानप्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जड़ता नही है, गीताकी भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है। गीताकी भक्ति पूर्णपुरुष परमात्माकी पूर्णताके समीप पहुँचे हुए साधक द्वारा की जाती है। गीताकी भक्तिके लक्षण बारहवें अध्यायमें भगवान्ने स्वयं बतलाये है। गीताकी भक्तिमें पापको स्थान नही है। वास्तवमे भगवान्का जो शरणागत अनन्य भक्त सब तरफ सबमें सर्वदा भगवान्को देखता है, वह छिपकर भी पाप कैसे कर सकता है? जो शरणागत भक्त अपने जीवनको परमात्माके हाथोंमे सौंपकर उसके इशारेपर नाचना चाहता है उसके द्वारा पाप कैसे बन सकते है? जो भक्त सारे जगत्को परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है, वह निष्क्रिय आलसी कैसे हो सकता है? एव जिसके पास परमात्मस्वरूपके ज्ञानका प्रकाश है। वह अन्वतममे कैसे प्रवेश कर सकता है?

इसीसे भगवान्ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८।७)

युद्ध करो, परतु सब समय मेरा (भगवान्का) स्मरण करते हुए और मेरेमें (भगवान्में) अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर करो। यही तो निष्कामकर्मसंयुक्त भक्तियोग है, इससे निस्सन्देह

परमात्माकी प्राप्ति होती है । इसी प्रकारकी आज्ञा अध्याय ९ । २७ और १८ । ५७ आदि श्लोकोमें दी है ।

इसका यह मतलब नही कि केवल कर्मयोग या केवल भक्तियोगके लिये भगवान्‌ने स्वतन्त्ररूपसे कही कुछ भी नहीं कहा है । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२ । ४७) 'योगस्थ· कुरु कर्माणि' (२।४८) आदि श्लोकोंमे केवल कर्मका और 'मन्मना भव' (९।३४) आदिमें केवल भक्तिका वर्णन मिलता है, परतु इनमे भी कर्ममें भक्तिका और भक्तिमें कर्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रच्छन्न है । समत्वरूप योगमे स्थित होकर फलका अधिकार ईश्वरके जिम्मे समझकर जो कर्म करता है, वह भी प्रकारान्तरसे ईश्वरस्मरणरूप भक्ति करता है और भक्ति, पूजा, नमस्कार आदि भगवद्भक्तिपरक क्रियाओको करता हुआ भी साधक तत्तत् क्रियारूप कर्म करता ही है । साधारण सकामकर्मीमें और उसमें भेद इतना ही है कि सकामकर्मी कर्मका अनुष्ठान सांसारिक कामना-सिद्धिके लिये करता है और निष्कामकर्मी भगवत्प्रीत्यर्थ करता है । स्वरूपसे कर्मत्यागकी तो गीताने निन्दा की है और उसे तामसी त्याग वतलाया है। (१८।७) एव अध्याय ३ श्लोक ४ मे कर्मत्यागसे सिद्धिका नही प्राप्त होना कहकर अगले श्लोकमे स्वरूपसे कर्मत्यागको अशक्य भी वतलाया है। अतएव गीताके अनुसार प्रधानतः अनन्यभावसे भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित होकर भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌के लिये मन, वाणी, शरीरसे स्ववर्णानुसार समस्त कर्मोका आचरण करना ही भगवान्‌की भक्ति है और इसीसे परम सिद्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है । भगवान् घोषणा करते है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

(गीता १८ । ४६)

जिस परमात्मासे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्तहै, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है ।

इस प्रकारके कर्म बन्धनके कारण न होकर मुक्तिके कारण ही होते है, इनमे पतनका डर बिल्कुल नही रहता है । भगवान्‌ने साधकको भगवत्प्राप्तिके लिये और साधनोत्तर सिद्धकालमें ज्ञानीको भी लोकसंग्रह यानी जनताको सन्मार्गपर लानेके लिये अपना उदाहरण पेशकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है, यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नही है—'तस्य कार्यं न विद्यते ।' (३ । १७)

इसके सिवा अर्जुन क्षत्रिय, गृहस्थ और कर्मशील पुरुष थे, इसलिये भी उन्हे कर्मसहित भक्ति करनेके लिये ही विशेषरूपसे कहा है और वास्तवमें सर्वसाधारणके हितके लिये भी यही आवश्यक है । संसारमे तमोगुण अधिक छाया हुआ है । तमोगुणके कारण लोग भगवत्तत्त्वसे अनभिज्ञ रहकर एकान्तवासमे भजन-ध्यानके वहाने नीद, आलस्य और अकर्मण्यताके शिकार हो जाते है । ऐसा देखा भी जाता है कि कुछ लोग 'अव तो हम निरन्तर एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान ही किया करेंगे' कहकर कर्म छोड़ देते है, परन्तु थोड़े ही दिनोंमे उनका मन एकान्तसे हट जाता है । कुछ लोग सोनेमें समय विताते हैं, तो कोई कहने लगते है 'क्या करे, ध्यानमे मन नही लगता ।' फलतः कुछ तो निकम्मे हो जाते है और

कुछ प्रमादवश इन्द्रियोको आराम देनेवाले भोगोंमे प्रवृत्त हो जाते हैं। सच्चे भजन-ध्यानमें लगनेवाले विरले ही निकलते है। एकान्तमे निवासकर भजन-ध्यान करना बुरा नही है। परन्तु यह साधारण बात नही है। इसके लिये बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है और यह अभ्यास कर्म करते हुए ही क्रमशः वढ़ाया और गाढ़ किया जा सकता है, इसीलिए भगवान्‌ने कहा है कि नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए फलासक्तिरहित होकर मेरी आज्ञासे मेरी प्रीतिके लिये कर्म करना चाहिये। परमेश्वरके ध्यान-की गाढ़ स्थिति प्राप्त होनेमे कर्मोका संयोग-वियोग बाधक-साधक नही है। प्रीति और सच्ची श्रद्धा ही इसमें प्रधान कारण है। प्रीति और श्रद्धा होनेपर कर्म उसमे बाधक नही होते, बल्कि उसका प्रत्येक कर्म भगवत्-प्रीतिके लिये ही अनुष्ठित होकर शुद्ध भक्तिके रूपमे परिणत हो जाता है। इससे भी कर्म त्यागीकी आवश्यकता सिद्ध नही होती। परन्तु इस कथनसे एकान्तमें निरन्तर भक्ति करनेका निषेध भी नहीं है।

अधिकारियोके लिये 'विविक्तदेशसेवित्वम्' और 'अरतिर्जन-संसदि' (१३ । १०) होना उचित ही है, परन्तु संसारमे प्रायः अधिकांश अधिकारी कर्मके ही मिलते है। एकान्तवासके वास्तविक अधिकारी वे हैं जो भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन है, जिनका हृदय अनन्यप्रेमसे परिपूर्ण है, जो क्षणभरके भगवान्‌के विस्मरणसे ही परम व्याकुल हो जाते है, भगवत्-प्रेमकी विह्वलतासे वाह्यज्ञान लुप्त-प्राय रहनेके कारण जिनके सांसारिक कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न नहीं

हो सकते और जिनको ससारके ऐशो-आराम-भोगके दर्शन-श्रवण-मात्रसे ही ताप होने लगता है, ऐसे अधिकारियोंके लिये जन-समुदायसे अलग रहकर एकान्तदेशमे निरन्तर अटल साधन करना ही अधिक श्रेयस्कर होता हैं। ये लोग कर्मको नहीं छोड़ते। कर्म ही उन्हें छोड़कर अलग हो जाते है। ऐसे लोगोंको एकान्तमे कभी आलस्य या विषय-चिन्तन नहीं होता। इसके भगवत्प्रेमकी सरितामे एकान्तसे उत्तरोत्तर बाढ़ आती है और बहुत ही शीघ्र इन्हें परमात्मारूपी महासमुद्रमें मिलाकर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समुद्रके विशाल असीम अस्तित्वमें अभिन्नरूपसे मिला देती है; परन्तु जिन लोगोंको एकान्तमे सांसारिक विक्षेप सताते है, वे अधिक समयतक कर्मरहित होकर एकान्तवासके अधिकारी नही है। जगत्में ऐसे ही लोग अधिक है। अधिकसख्यक लोगोके लिये जो उपाय उपयोगी होता है, प्रायः वही बतलाया जाता है, यही नीति है। इसलिये शास्त्रोक्त सांसारिक कर्मोंकी गति भगवत्की ओर मोड़ देनेका ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये, कर्मोंको छोड़नेका नही।

ऊपर कहा गया है कि अर्जुन गृहस्थ, क्षत्रिय और कर्मशील था, इससे कर्मकी बात कही गयी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गीता केवल गृहस्थ, क्षत्रिय या कर्मियोंके लिये ही है। इसमें कोई सन्देह नही कि गीतारूपी दुग्धामृत अर्जुनरूप वत्सके व्याजसे ही विश्वको मिला, परन्तु वह इतना सार्वभौम और सुमधुर है कि सभी देश, सभी जाति, सभी वर्ण और सभी आश्रमके लोग उसका अबाधितरूपसे पानकर अमरत्व प्राप्त कर सकते है, जैसे भगवत्प्राप्ति-में सबका अधिकार है वैसे ही गीताके भी सभी अधिकारी है। अवश्य

ही सदाचार, श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका होना आवश्यक है; क्योंकि भगवान्‌ने अश्रद्धालु; सुनना न चाहनेवाले, आचरणभ्रष्ट और भक्ति-हीन मनुष्योंमे इसके प्रचारका निषेध किया है। (गीता १८।६७) भगवान्‌का आश्रित जन कोई भी क्यो न हो; सभी इस अमृतपानके पात्र हैं। (१८ । ६८)

यदि यह कहा जाय कि गीतामे तो साख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओंका वर्णन है। भक्तिकी तीसरी कोई निष्ठा ही नहीं, तब गीताको भक्तिप्रधान कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि भक्तिकी भिन्न निष्ठा भगवान्‌ने नही कही है, परन्तु पहले यह समझना चाहिये कि निष्ठा किसका नाम है और क्या योग और सांख्यनिष्ठा उपासना बिना सम्पन्न हो सकते है ? उपासनारहित कर्म जड होनेसे कदापि मुक्तिदायक नहीं होते और न उपासनारहित ज्ञानकी प्रशसनीय है। गीतामें भक्ति, ज्ञान और कर्म–दोनोंमें ओतप्रोत है। निष्ठाका अर्थ है--परमात्माके स्वरूपमें स्थिति ! जो स्थिति परमेश्वरके स्वरूपमें भेदरूपसे होती है, यानी परमेश्वर अशी और मैं उसका अश हूँ, परमेश्वर सेव्य और मै उसका सेवक हूँ। इस भावसे परमात्माकी प्रीतिके लिये उसके आज्ञानुसार फलासक्ति त्याग कर जो कर्म किये जाते हैं उसका नाम है निष्काम कर्मयोगनिष्ठा और जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मे अभेदरूपसे स्थिति है यानी ब्रह्ममें स्थित रहकर प्रकृतिद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंको प्रकृतिका विस्तार और मायामात्र मानकर वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नही

है यों निश्चय करके जो अभेद स्थिति होती है उसे सांख्यनिष्ठा कहते हैं। इन दोनों ही निष्ठाओंमें उपासना भरी है। अतएव भक्तिको तीसरी स्वतन्त्र निष्ठाके नामसे कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसपर यदि कोई कहे कि तब तो निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोगके बिना केवल भक्तिमार्गसे परमात्माकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने केवल भक्तियोगसे स्थान-स्थानपर परमात्माकी प्राप्ति होना बतलाया है। साक्षात् दर्शनके लिये यहाँतक कह दिया है कि अनन्य भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे नहीं हो सकता (गीता ११। ५४)। ध्यानयोग रूपी भक्तिको (गीता १३। २४) में 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' कहकर भगवान्‌ने और स्पष्ट कर दिया है। इस ध्यानयोगका प्रयोग उपर्युक्त दोनों साधनोंके साथ भी होता है और अलग भी। यह उपासना या भक्तिमार्ग बड़ा ही सुगम और महत्त्वपूर्ण है। इसमें ईश्वरका सहारा रहता है और उसका बल प्राप्त होता रहता है। अतएव हम लोगोंको इसी गीतोक्त निष्काम विशुद्ध अनन्यभक्तिका आश्रय लेकर अपने समस्त स्वाभाविक कर्म भगवत्प्रत्यर्थ करने चाहिये।

श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाश

परमात्माकी शरणमें प्राप्त हुए पुरुषका मन परमात्मासे प्रार्थना करता है—

हे प्रभो ! हे विश्वम्भर ! हे दीनदयालो ! हे कृपासिन्धो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे पतितपावन ! हे सर्वशक्तिमान् ! हे दीनवन्धो ! हे नारायण ! हे हरे ! दया कीजिये, दया कीजिये । हे अन्तर्यामिन् ! आपका नाम ससारमें दयासिन्धु और सर्वशक्तिमान् विख्यात है, इसीलिये दया करना आपका काम है ।

हे प्रभो ! यदि आपका नाम पतितपावन है तो एक वार आकर दर्शन दीजिये । मैं आपको वारंबार प्रणाम करके विनय करता हूँ, हे प्रभो ! दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये । हे प्रभो ! आपके विना इस ससारमे मेरा और कोई भी नही है । एक वार दर्शन दीजिये, दर्शन दीजिये; विशेष न तरसाइये । आपका नाम विश्वम्भर है, फिर मेरी आशाको क्यो नही पूर्ण करते हैं । हे करुणामय ! हे दयासागर ! दया कीजिये । आप दयाके समुद्र हैं, इसलिये किञ्चित् दया करनेसे आप दयासागरमें कुछ दयाकी त्रुटि नहीं हो जायगी । आपकी किञ्चित् दयासे सम्पूर्ण संसारका उद्धार

हो सकता है, फिर एक तुच्छ जीवका उद्धार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? हे प्रभो ! यदि आप मेरे कर्तव्यको देखे तब तो इस संसारसे मेरा निस्तार होनेका कोई उपाय ही नही है। इसलिये आप अपने पतितपावन नामकी ओर देखकर इस तुच्छ जीवको दर्शन दीजिये। मैं न तो कुछ भक्ति जानता हूं, न योग जानता हूँ तथा न कोई क्रिया ही जानता हूँ जो कि मेरे कर्तव्यसे आपका दर्शन हो सके। आप अन्तर्यामी होकर यदि दयासिन्धु नही होते तो आपको ससारमे कोई दयासिन्धु नही कहता, यदि आप दयासागर होकर भी अन्तरकी पीड़ाको न पहचानते तो आपको कोई अन्तर्यामी नही कहता। दोनों गुणोंसे युक्त होकर भी यदि आप सामर्थ्यवान् न होते तो आपको कोई सर्वशक्तिमान् और सर्वसामर्थ्यवान् नही कहता। यदि आप केवल भक्तवत्सल ही होते तो आपको कोई पतितपावन नही कहता। हे प्रभो ! हे दयासिन्धो !! एक बार दया करके दर्शन दीजिये ॥१॥

जीवात्मा अपने मनसे कहता है—

रे दुष्ट मन ! कपटभरी प्रार्थना करनेसे क्या अन्तर्यामी भगवान् प्रसन्न हो सकते है ? क्या वे नही जानते कि ये सब तेरी प्रार्थनाएँ निष्काम नही है ? एव तेरे हृदयमे श्रद्धा, विश्वास और प्रेम कुछ भी नही है ? यदि तुझको यह विश्वास है कि भगवान् अन्तर्यामी है तो फिर किसलिये प्रार्थना करता है ? बिना प्रेमके मिथ्या प्रार्थना करनेसे भगवान् कभी नही सुनते और यदि प्रेम है तो फिर कहनेसे प्रयोजन ही क्या है ? क्योकि भगवान्ने तो स्वय ही श्रीगीताजीमे कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

(४ । ११)

'जो मेरेको जैसे भजते है मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ ।'

तथा—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९ । २९)

'जो (भक्त) मेरेको भक्तिसे भजते हैं वे मेरेमे है और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ ।' *

रे मन ! हरि दयासिन्धु होकर भी यदि दया न करे तो भी कुछ चिन्ता नही, अपनेको तो अपना कर्तव्यकार्य करते ही रहना चाहिये । हरि प्रेमी हैं, वे प्रेमको पहचानते है । प्रेमके विषयको प्रेमी ही जानता है, वे अन्तर्यामी भगवान् क्या तेरे शुष्क प्रेमसे दर्शन दे सकते है ? जब विशुद्ध प्रेम और श्रद्धा-विश्वासरूपी डोरी तैयार हो जायगी तो उस डोरीद्वारा बँधे हुए हरि आप-ही-आप चले आवेंगे । रे मूर्ख मन ! क्या मिथ्या प्रार्थनासे काम चल सकता है ? क्योकि हरि अन्तर्यामी है । रे मन ! तुझको नमस्कार है, तेरा काम ससारमे चक्कर लगानेका है, सो जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा । तेरे ही संगके कारण मैं इस असार संसारमे अनेक दिन फिरता रहा, अब हरिके चरण-कमलोंका आश्रय ग्रहण करनेसे तेरा सम्पूर्ण कपट जान गया, तू मेरे लिये

---

* जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्याप्त हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवाले ही अन्त करणमे प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है ।

कपटभाव और अति दीन वचनोंसे भगवान्‌से प्रार्थना करता है। परन्तु तू नही जानता कि हरि अन्तर्यामी है। श्रीयोगवासिष्ठमें ठीक ही लिखा है कि मनके अमन हुए विना अर्थात् मनका नाश हुए विना भगवान्‌की प्राप्ति नही होती। वासनाका क्षय, मनका नाश और परमेश्वरकी प्राप्ति—ये तीनों एक ही कालमे होते हैं। इसलिये तुझसे विनय करता हूँ कि तू यहाँसे अपने भाजनेसहित चला जा, अव यह पक्षी तेरी मायारूपी फाँसीमें नही फँस सकता; क्योकि इसने हरिके चरणोंका आश्रय लिया है। क्या तू अपनी दुर्दशा कराके ही जायगा ? अहो ! कहाँ वह माया ! कहाँ काम-क्रोधादि शत्रुगण ? अव तो तेरी सम्पूर्ण सेनाका क्षय होता जाता है, इसलिये अपना प्रभाव पडनेकी आशाको त्याग कर जहां इच्छा हो, चला जा ॥२॥

मन फिर परमात्मासे प्रार्थना करता है—

प्रभो ! प्रभो ! दया करिये, हे नाथ ! मै आपकी शरण हूँ। हे शरणागतप्रतिपालक ! शरण आयेकी लज्जा रखिये। हे प्रभो ! रक्षा करिये, रक्षा करिये, एक वार आकर दर्शन दीजिये। आपके विना इस ससारमें मेरे लिये कोई भी आधार नहीं है, अतएव आपको वारंवार नमस्कार करता हूँ, प्रणाम करता हूँ, विलम्ब न करिये, शीघ्र आकर दर्शन दीजिये। हे प्रभो ! हे दयासिन्धो !! एक वार आकर दासकी सुध लीजिये। आपके न आनेसे प्राणोंका आधार कोई भी नही दीखता। हे प्रभो ! दया करिये, दया करिये, मैं आपकी शरण हूँ, एक वार मेरी ओर दयादृष्टिसे देखिये ! हे प्रभो ! हे दीनवन्धो ! हे दीनदयालो ! विशेष न तरसाइये

दया करिये। मेरी दुष्टताकी ओर न देखकर अपने पतितपावन स्वभावका प्रकाश करिये ॥ ३ ॥

जीवात्मा अपने मनसे फिर कहता है—

रे मन ! सावधान ! सावधान ! किसलिये व्यर्थ प्रलाप करता है। वे श्रीसच्चिदानन्दघन हरि झूठी विनती नही चाहते। अब तेरा कपट यहाँ नही चलेगा, तू मेरे लिये क्यो हरिसे कपटभरी प्रार्थना करता है ? ऐसी प्रार्थना मै नही चाहता, तेरी जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा।

यदि हरि अन्तर्यामी है तो प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है ? यदि वे प्रेमी है तो बुलानेकी क्या आवश्यकता है ? यदि वे विश्वम्भर है तो माँगनेकी क्या आवश्यकता है ? तेरेको नमस्कार है, तू यहाँसे चला जा; चला जा ॥ ४ ॥

जीवात्मा अपनी बुद्धि और इन्द्रियोंसे कहता है—

हे इन्द्रियो ! तुमको नमस्कार है, तुम भी जाओ, जहाँ वासना होती है वहाँ तुम्हारा टिकाव होता है। मैने हरिके चरणकमलोंका आश्रय लिया है, इसलिये अब तुम्हारा दाव नही पड़ेगा। हे बुद्धे ! तुमको भी नमस्कार है, पहले तेरा ज्ञान कहाँ गया था जब कि तू मुझको संसारमे डूबनेके लिये शिक्षा दिया करती थी ? क्या वह शिक्षा अब लग सकती है ॥ ५ ॥

जीवात्मा परमात्मासे कहता है—

हे प्रभो ! आप अन्तर्यामी है, इसलिये मै नही कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये, क्योंकि यदि मेरा पूर्ण प्रेम

होता तो क्या आप ठहर सकते ? क्या वैकुण्ठमे लक्ष्मी भी आपको अटका सकती ? यदि मेरी आपमे पूर्ण श्रद्धा होती तो क्या आप विलम्ब करते ? क्या वह प्रेम और विश्वास आपको छोड़ सकता ? अहो ! मैं व्यर्थ ही ससारमे निष्कामी और निर्वासनिक बना हुआ हूँ और व्यर्थ ही अपनेको आपके शरणागत मानता हूँ । परन्तु कोई चिन्ता नही, जो कुछ आकर प्राप्त हो उसीमे मुझे प्रसन्न रहना चाहिये । क्योंकि ऐसे ही आपने श्रीगीताजीमें कहा है* इसलिये आपके चरणकमलोकी प्रेम-भक्तिमे मग्न रहते हुए यदि मुझको नरक भी प्राप्त हो तो वह भी स्वर्गसे बढ़कर है । ऐसी दशामे मुझको क्या चिन्ता है ? जब मेरा आपमे प्रेम होगा तो क्या आपका नही होगा ? जब मैं आपके दर्शन विना नही ठहर सकूँगा उस समय क्या आप ठहर सकेंगे ? आपने तो स्वय श्रीगीताजीमे कहा हे कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

(४ । ११)

'जो मुझको जैसे भजते है मैं भी उनको वैसे ही भजताहूँ ।' अतएव मैं नही कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये । और आपको भी क्या परवा है, परन्तु कोई चिन्ता नही, आप जैसा उचित समझे वैसा ही करे । आप जो कुछ करे उसीमें मुझको आनन्द मानना चाहिये ॥ ६ ॥

---

* यदृच्छालाभसंतुष्ट. (गीता अध्याय ४ श्लोक २२), संतुष्टो येन केनचित (गीता अध्याय १२ श्लोक १९) ।

जीवात्मा ज्ञाननेत्रोंद्वारा परमेश्वरका ध्यान करता हुआ आनन्दमें विह्वल होकर कहता है—

अहो ! अहो ! आनन्द ! आनन्द ! प्रभो ! प्रभो ! क्या आप पधारे ? धन्य भाग्य ! धन्य भाग्य ! आज मैं पतित भी आपके चरणकमलोंके प्रभावसे कृतार्थ हुआ ! क्यों न हो, आपने स्वय श्रीगीताजीमे कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(९ । ३०-३१)

'यदि (कोई) अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको (निरन्तर) भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योकि वह यथार्थ निश्चयवाला है ।'

'इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने-वाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नही होता' ॥ ७ ॥

जीवात्मा परमात्माके आश्चर्यमय सगुण रूपको ध्यानमे देखता हुआ अपने मन-ही-मनमें उनकी शोभाका वर्णन करता है—

अहो ! कैसे सुन्दर भगवान्‌के चरणारविन्द है कि जो नील-मणिके ढेरकी भांति चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे है । चमकीले नखोसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियां जिन-

पर रत्नजटित सुवर्णके नूपुर शोभायमान हैं। जैसे भगवान्‌के चरण-कमल है, वैसे ही जानु और जघादि अग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बर के भीतरसे चमक रहे है। अहो ! सुन्दर चार भुजाएँ कैसी शोभायमान है। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें तो शख और चक्र एव नीचेकी दोनो भुजाओंमे गदा और पद्म विराजमान है। चारों भुजाओंमें केयूर और कडे आदि सुन्दर-सुन्दर आभूषण शोभित है। अहो ! भगवान्‌का वक्षस्थल कैसा सुन्दर है, जिसके मध्यमे श्रीलक्ष्मीजी का और भृगुलताका चिह्न विराजमान है तथा नीलकमलके सदृश वर्णवाली भगवान्‌की ग्रीवा भी कैसी सुन्दर है जिसमे रत्नजटित हार और कौस्तुभमणि विराजमान है एव मोतियोकी और वैजयन्ती तथा सुवर्णकी और भाँति-भाँतिके पुष्पोकी मालाएँ सुशोभित हैं, सुन्दर ठोड़ी, और लाल ओष्ठ और भगवान्‌की अतिशय सुन्दर नासिका है जिसके अग्रभागमें मोती विराजमान है। भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके पुष्पकी भाँति खिले हुए हैं। कानोंमे रत्नजटित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारी तिलक एवं शीशपर रत्नजटित किरीट (मुकुट) शोभायमान है। अहो ! भगवान्‌का मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति गोल-गोल कैसा मनोहर है जिसके चारो ओर सूर्यके सदृश किरणे देदीप्यमान है। जिनके प्रकाशसे मुकुटादि सम्पूर्ण भूषणोके रत्न चमक रहे है ? अहो ! आज मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ कि जो मन्द-मन्द हँसते हुए आनन्दमूर्ति हरि भगवान्‌का दर्शन कर रहा हूँ ॥८॥

इस प्रकार आनन्दमे विह्वल हुआ जीवात्मा ध्यानमे अपने

सम्मुख सवा हाथकी दूरीपर बारह वर्षकी सुकुमार अवस्थाके रूपमे भूमिसे सवा हाथ ऊँचे आकाशमें विराजमान परमेश्वरको देखता हुआ उनकी मानसिक पूजा करता है।

मानसिक पूजाकी विधि

ॐ पादयो पाद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १ ॥

इस मन्त्रको बोलकर शुद्ध जलसे श्रीभगवान्के चरणकमलोंको धोकर उस जलको अपने मस्तकपर धारण करना ॥१॥

ॐ हस्तयोरर्घ्यं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ २ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरि भगवान्के हस्त-कमलोंपर पवित्र जल छोड़ना ॥ २ ॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ३ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीनारायणदेवको आचमन कराना ॥ ३ ॥

ॐ गन्धं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ४ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरि भगवान्के ललाटपर रोली लगाना ॥ ४ ॥

ॐ मुक्ताफलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ५ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्के ललाटपर मोती लगाना ॥ ५ ॥

ॐ पुष्पं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ६ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्के मस्तकपर और नासिकाके सामने आकाशमे पुष्प छोड़ना ॥ ६ ॥

ॐ मालां समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ७ ॥

इस मन्त्रको बोलकर पुष्पोकी माला श्रीहरिके गलेमे पहनाना ॥ ७ ॥

ॐ धूपमाघ्रापयामि नारायणाय नमः ॥ ८ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के सामने अग्निमें धूप छोड़ना ॥ ८ ॥

ॐ दीपं दर्शयामि नारायणाय नमः ॥ ९ ॥

इस मन्त्रको बोलकर घृतका दीपक जलाकर श्रीविष्णु भगवान्‌के सामने रखना ॥ ९ ॥

ॐ नैवेद्य समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १० ॥

इस मन्त्रको बोलकर मिश्रीसे श्रीहरि भगवान्‌के भोग लगाना ॥ १० ॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ ११ ॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को आचमन कराना ॥ ११ ॥

ॐ ऋतुफलं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥ १२ ॥

इस मन्त्रको बोलकर ऋतुफल (केला आदि) से श्रीभगवानके भोग लगाना ॥ १२ ॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१३॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को फिर आचमन कराना ॥ १३ ।

ॐपूगीफलं सताम्बूल समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१४॥

इस मन्त्रको बोलकर सुपारीसहित नागरपान श्रीभगवान्‌के अर्पण करना ॥ १४ ॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१५॥

इस मन्त्रको बोलकर पुनः श्रीहरिको आचमन कराना । फिर सुवर्णके थालमे कपूरको प्रदीप्त करके श्रीनारायणदेवकी आरती उतारना ॥ १५ ॥

ॐ पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि नारायणाय नमः ॥१६॥

इस मन्त्रको बोलकर सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंकी अञ्जलि भरकर श्रीहरि भगवान्के मस्तकपर छोड़ना ।। १६ ।।

फिर चार प्रदक्षिणा करके श्रीनारायणदेवको साष्टाङ्ग दण्डवत्प्रणाम करना ।। ९ ।।

उक्त प्रकारसे श्रीहरि भगवान्की मानसिक पूजा करनेके पश्चात् उनको अपने हृदय-आकाशमे शयन कराके जीवात्मा अपने मन-ही-मनमे श्रीभगवान्के स्वरूप और गुणोंका वर्णन करता हुआ बारंबार सिरसे प्रणाम करता है--

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्ण शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ।।

'जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमे कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्के आधार है, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त है, नील मेघके समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते है, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले है, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र विष्णु भगवान्को मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ ।'

असख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ो अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका

पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वियोके समान जिनमे क्षमा है, करोड़ों समुद्रोके समान जो गम्भीर है, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नही कर सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवल कल्पनामात्र ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे अनुपमेय श्रीहरि भगवान्को मेरा बारंबार नमस्कार है।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णु भगवान् मन्द-मन्द मुस्करा रहे है, जिनके सारे अङ्गोपर रोम-रोममे पसीनेकी बूँदे चमकती हुई शोभा देती हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्को मेरा बारंबार नमस्कार है ॥ १० ॥

जीवात्मा मन-ही-मनमे श्रीहरि भगवान्को पखे से हवा करता हुआ एव उनके चरणोंकी सेवा करता हुआ उनकी स्तुति करता है—

अहो ! हे प्रभो ! आप ही ब्रह्मा है, आप ही विष्णु है, आप ही महेश है, आप ही सूर्य है, आप ही चन्द्रमा और तारागण है, आप ही भूर्भुवः स्वः—तीनों लोक है तथा सातों द्वीप और चौदह भुवन आदि जो कुछ भी है, सब आपहीका स्वरूप है, आप ही विराट्स्वरूप है, आप ही हिरण्यगर्भ हैं, आप ही चतुर्भुज है और मायातीत शुद्ध ब्रह्म भी आप ही है, आपहीने अपने अनेक रूप धारण किये हैं, इसलिये सम्पूर्ण संसार आपहीका स्वरूप है तथा द्रष्टा, दृश्य, दर्शन जो कुछ भी है सो सब आप ही है।* अतएव—

---

* 'एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः' (विष्णुसहस्रनाम १४०) पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण भूतोको उत्पन्न करनेवाला महान् भूत एक ही

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'सम्पूर्ण प्राणियोके आदिभूत पृथ्वीको धारण करनेवाले और युग-युगमे प्रकट होनेवाले अनन्त रूपधारी (आप) विष्णुभगवान्‌के लिये नमस्कार है।'

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र है, आप ही विद्या और आप ही धन है, हे देवोंके देव! आप ही मेरे सर्वस्व है' ॥११॥

उक्त प्रकारसे परमात्माकी प्रेमभक्तिमें लगे हुए पुरुषका जब परमात्मामें अतिशय प्रेम हो जाता है उस कालमें उसको अपने शरीरादिकी भी सुधि नही रहती, जैसे सुन्दरदासजी ने प्रेम-भक्तिका लक्षण करते हुए कहा है—

इन्दव छन्द

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों, तब भूलि गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरै जित ही तित, नेक रही न शरीर सँभारा॥

विष्णु अनेक रूपसे स्थित है।' तथा 'एकोऽहं बहु स्याम्' (इति श्रुति) (सृष्टिके आदि मे भगवान्‌ने संकल्प किया कि) 'मैं एक ही बहुत रूपोमे होऊँ।'

श्वास उसास उठे सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि परयौ रस पी मतवारा॥

नाराच छन्द

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी, न देव यक्षतें डरै॥
सुने न कान औरकी, द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात, भक्ति-प्रेम लच्छना॥

वीजुमाला छन्द

प्रेम अधीनो छाक्यो डोलै, क्योंकि क्योंही वाणी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा॥

मनहरन छन्द

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर विनु शिशु जैसे,
पीरकी ओषधि बिनु, कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यों स्वातिबूँद, चन्दको चकोर जैसे,
चन्दनकी चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन ज्यों धन चाहै, कामिनीको कन्त चाहै,
ऐसी जाके चाह ताहि, कछु न सुहात है।
प्रेमको प्रवाह ऐसो, प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुन्दर कहत यह प्रेमहीकी बात है॥

छप्पय छन्द

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै, रोवन फिर लागै।
कबहुँक गद्-गद कण्ठ, शब्द निकसे नहिं आगे॥

कबहुँक हृदय उमङ्ग, बहुत ऊँचे स्वर गावे ।
कबहुँक ह्वै मुख मौन, गगन ऐसे रहि जावे ॥
चित्त-वित्त हरिसों लग्यो, सावधान कैसे रहै ।
यह प्रेमलक्षणा भक्ति है, शिष्य सुनहु सुन्दर कहै ॥१२॥

सगुण भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर जीवात्मा शुद्ध सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें मग्न हुआ करता है—

अहो ! आनन्द ! आनन्द ! अति आनन्द ! सर्वत्र एक वासुदेव-ही-वासुदेव व्याप्त है* अहो ! सर्वत्र एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है ।

कहाँ काम, कहाँ क्रोध, कहाँ लोभ, कहाँ मोह, कहाँ मद, कहाँ मत्सरता, कहाँ मान, कहाँ क्षोभ, कहाँ माया, कहाँ मन, कहाँ बुद्धि, कहाँ इन्द्रियाँ, सर्वत्र एक सच्चिदानन्द-ही-सच्चिदानन्द व्याप्त है । अहो ! सर्वत्र एक सत्यरूप, चेतनरूप, आनन्दरूप, घनरूप, पूर्णरूप, ज्ञानस्वरूप, कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, सनातन, परब्रह्म, परम अक्षर, परिपूर्ण, अनिर्देश्य, नित्य, सर्वगत, अचल, ध्रुव, अगोचर, मायातीत, अग्राह्य, आनन्द, परमानन्द, महानन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न कुछ भी नही है ॥१३॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

---

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७ । १९)

'(जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है ।'

ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है

वास्तवमे नामकी महिमा वही पुरुष जान सकता है, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवन्नाममें संलग्न रहता है। नामकी प्रिय और मधुर स्मृतिसे जिसके क्षण-क्षणमें रोमाञ्च और अश्रुपात होते हैं, जो जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलताके समान क्षणभरके नाम-वियोगसे भी विकल हो उठता है, जो महापुरुष निमेषमात्रके लिये भी भगवान्‌के नामको नहीं छोड़ सकता और जो निष्काम भावसे निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करते-करते उसमें तल्लीन हो चुका है ऐसा ही महात्मा पुरुष इस विषयके पूर्णतया वर्णन करनेका अधिकारी है और उसीके लेखसे संसारमें विशेष लाभ पहुँच सकता है।

यद्यपि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, उस अपरिमित गुणनिधान भगवान्‌के नामकी अवर्णनीय महिमाका वर्णन करनेका मुझमें सामर्थ्य नही है, तथापि अपने कतिपय मित्रोके अनुरोधसे मैंने कुछ निवेदन करनेका साहस किया है। अतएव इस लेखमे जो कुछ त्रुटियां रही हो उनके लिये आपलोग क्षमा करे।

महिमाका दिग्दर्शन

भगवन्नामकी अपार महिमा है, सभी युगोंमे इसकी महिमाका विस्तार है। शास्त्रों और साधु-महात्माओंने सभी युगोंके लिये मुक्तकण्ठसे नाम-महिमाका गान किया है; परंतु कलियुगके लिये तो इसके समान मुक्तिका कोई दूसरा उपाय ही नही बतलाया गया। यथा—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(नारद पु० १। ४१। १५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नही है।'

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)

'सत्ययुगमें भगवान् विष्णुके ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंसे, द्वापरमें भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल हरिके नाम-संकीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।'

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरेहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई।

नाम-महिमामे प्रमाणोका पार नही है। हमारे शास्त्र इससे भरे पडे है, परंतु अधिक विस्तारभयसे यहाँ इतने ही लिखे जाते है। ससारमे जितने मत-मतान्तर है प्राय: सभी ईश्वरके नामकी महिमाको स्वीकार करते और गाते है। अवश्य ही रुचि और भावके अनुसार नामोंमें भिन्नता रहती है; परंतु परमात्माका नाम कोई-सा भी क्यों न हो सभी एक-सा लाभ पहुँचानेवाले है। अतएव जिसको जो नाम रुचिकर प्रतीत हो वह उसीके जपका ध्यानसहित अभ्यास करे।

मेरा अनुभव

कुछ मित्रोने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है; परतु जब कि मैने भगवन्नामका विशेष संख्यामें जप ही नही किया तब मै अपना अनुभव क्या लिखूं ? भगवत्-कृपासे जो कुछ यत्किञ्चित् नामस्मरण मुझसे हो सका, उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है।

नामका अभ्यास मैं लड़कपनसे ही करने लगा था। जिससे शनैः-शनैः मेरे मनकी विषयवासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी सहायता मिली। काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्तःकरणमें शान्तिका विकास हुआ। कभी-कभी नेत्र वद करनेसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा। सांसारिक स्फुरणा वहुत कम हो गयी। भोगोंमें वैराग्य हो गया। उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था।

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमे श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उनसे वातचीत भी हुई। श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे वहुत कुछ कहा, पर मेरी इच्छा माँगनेकी नही हुई, अन्तमें वहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नही माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो।' यह सव नामका ही फल था।

इसके वाद नाम-जपसे मुझे और भी अधिकतर लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मै असमर्थ हूं। हाँ, इतना अवश्य कह सकता

हूँ कि नामजपसे मुझे जितना लाभ हुआ है उतना श्रीमद्भगवद्-गीताके अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ ।

जब-जब मुझे साधनसे च्युत करनेवाले भारी विघ्न प्राप्त हुआ करते थे, तब-तब मैं प्रेमपूर्वक भावनासहित नामजप करता था और उसीके प्रभावसे मै उन विघ्नोंसे छुटकारा पाता था । अतएव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नोंको नष्ट करने और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूप-चिन्तनसहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नही है । जब कि साधारण सख्यामें भगवन्नामका जप करने से ही मुझे इतनी परम शान्ति, इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है कि जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्काम भावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते है, उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है ।

नामजप किसलिये करना चाहिये ?

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

(कठ० १ । २ । १६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकार रूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलता है ।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार कल्पवृक्षरूप भगवद्भजनके

प्रतापसे जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, उसे वही मिल सकती है। परन्तु आत्माका कल्याण चाहनेवाले सच्चे प्रेमी भक्तोंको तो निष्काम भावसे ही भजन करना चाहिये। शास्त्रोंमें निष्काम प्रेमी भक्तकी ही अधिक प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने भी कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १६। १७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझे भजते हैं। उनमे भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इस प्रकार निष्काम प्रेमपूर्वक होनेवाले भगवद्‌भजनके प्रभावको जो मनुष्य जानता है, वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नही भूलता और भगवान् भी उसको नही भूलते। भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवकेके अन्तर्गत

देखता है, उसके लिये मैं अदृश नही होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नही होता है; क्योकि वह मेरेमे एकीभावसे नित्य स्थित है।'

भला, सच्चा प्रेमी क्या अपने प्रेमास्पदको छोड़कर कभी दूसरेको मनमें स्थान दे सकता है ? जो भाग्यवान् पुरुष परम सुखमय परमात्माके प्रभावको जानकर उसे ही अपना एकमात्र प्रेमास्पद वना लेते है, वे तो अहर्निश उसीके प्रिय नामकी स्मृतिमे तल्लीन रहते है, वे दूसरी वस्तु न कभी चाहते है और न उन्हे सुहाती ही है।

अतएव जहाँतक ऐसी अवस्था न हो वहाँतक ऐसा अभ्यास करना चाहिये। नामोच्चारण करते समय मन प्रेममें इतना मग्न हो जाना चाहिये कि उसे अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे। भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेम-भक्ति और भगवत्-साक्षात्का-रिताके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नही करनी चाहिये।

निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक वहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।

यदि कोई शङ्का करे कि वहुत लोग भगवन्नामका जप किया करते है; परंतु उनके कोई विशेष लाभ होता हुआ नही देखा जाता, तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि उन लोगोंने या तो विधिसहित जपका अभ्यास ही नही किया होगा या अपने जपरूप परमधनके वदलेमें तुच्छ सासारिक भोगोंको खरीद लिया होगा, नहीं तो उन्हें अवश्य ही विशेप लाभ होता, इसमे कोई सन्देह नही है।

इसलिये नामजप किसी प्रकारकी भी छोटी-बड़ी कामनाके लिये न करके केवल भगवत्के विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये ।

नामजप कैसे करना चाहिये ?

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

(योग० १ । २७)

उस 'परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है ।'

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

(योग० १ । २८)

'उस परमात्माके नामजप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना ।'

तत· प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

(योग० १ । २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि नामजप नामीके स्वरूपचिन्तन-सहित करना चाहिये । स्वरूपचिन्तनयुक्त नामजपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्-प्राप्ति होती है

यद्यपि नामी नामके ही अधीन है । गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना ।
रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ।।

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे ।
आवत हृदय सनेह बिसेषें ।।

इसलिये स्वरूपचिन्तनकी चेष्टा किये विना भी केवल नाम-जपके प्रतापसे ही साधकको समयपर भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार अपने-आप ही हो सकता है, परन्तु उसमें विलम्ब हो जाता है। भगवान्के मनमोहन स्वरूपका चिन्तन करते हुये जपका अभ्यास करनेसे बहुत ही शीघ्र लाभ होता है, क्योंकि निरन्तर चिन्तन होनेसे भगवान्की स्मृतिमें अन्तर नही पड़ता !

इसीलिये भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।
(८ । ७)

'अतएव हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमे अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।' भगवान्की इस आज्ञाके अनुसार उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और प्रत्येक सांसारिक कार्य करते समय साधकको नामजपके साथ-ही-साथ मन, बुद्धिसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और निश्चय करते रहना चाहिये । जिससे क्षणभरके लिये भी उसकी स्मृतिका वियोग न हो ।

इसपर यदि कोई पूछे कि किस नामका जप अधिक लाभ-दायक है ? और नामके साथ भगवान्के कैसे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ? तो इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि

परमात्माके अनेक नाम है, उनमेंसे जिस साधककी जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो, उसे उसी नामके जपसे विशेष लाभ होता है। अतएव साधकको अपनी रुचिके अनुकूल ही भगवान्के नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। एक बात अवश्य है कि जिस नामका जप किया जाय, स्वरूपका चिन्तन भी उसीके अनुसार होना चाहिये। उदाहरणार्थ—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मन्त्रका जप करनेवालेको सर्वव्यापी वासुदेवका ध्यान करना चाहिये। 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रका जप करनेवालेको चतुर्भुज श्रीविष्णु भगवानका ध्यान करना चाहिये। 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका जप करनेवालेको त्रिनेत्र भगवान् शंकरका ध्यान करना उचित है। केवल ॐकारका जप करनेवालेको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्धब्रह्मका चिन्तन करना उचित है। श्रीरामनामका जप करनेवालेको श्रीदशरथनन्दन भगवान रामचन्द्रजीके स्वरूपका चिन्तन करना लाभप्रद है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(कलिसं० १)

इस मन्त्रका जप करनेवालेके द्वारा श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपोंका अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार ध्यान किया जा सकता है; क्योंकि यह सब नाम सभी रूपोंके वाचक हो सकते है।

इन उदाहरणोंसे यही समझना चाहिये कि साधकको गुरुसे जिस नाम-रूपका उपदेश मिला हो, जिस नाम और जिस रूप

श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपनी आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो उसे उसी नाम-रूपके जप-ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

परतु नामजपके साथ ध्यान जरूर होना चाहिये। वास्तवमे नामके साथ नामीकी स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तुके नामका उच्चारण करता है उस-उस वस्तुके स्वरूपकी स्मृति उसे एक बार अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है, उसीके अनुसार भला-बुरा परिणाम भी अवश्य होता है। जैसे कोई मनुष्य कामके वशीभूत होकर जब किसी स्त्रीका स्मरण करता है तब उसकी स्मृतिके साथ ही उसके शरीरमे काम जाग्रत् होकर वीर्यपातादि दुर्घटनाको घटा देता है। इसी प्रकार वीररस और करुण-रसप्रधान वृत्तान्तोकी स्मृतिसे तदनुसार ही मनुष्यकी वृत्तियाँ और उसके भाव बन जाते है। साधु पुरुषको याद करनेसे मनमे श्रेष्ठ भावोंकी जागृति होती है और दुराचारीकी स्मृतिसे बुरे भावोका आविर्भाव होता है। जब लौकिक स्मरणका ऐसा परिणाम अनिवार्य है तब परमात्माके स्मरणसे परमात्माके भाव और गुणोंका अन्तःकरणमे आविर्भाव हो, इसमे तो सन्देह ही क्या है!

अतएव साधकको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर निष्काम भावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्य-कर्मोको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नामजपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

सत्सङ्गसे ही नामजपमें श्रद्धा होती है!

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त

भगवन्नाममे लोग क्यो नही प्रवृत्त होते ? इसका उत्तर यह है कि भगवत्-भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है ।

यद्यपि भगवान्‌की दया तो सदा ही सबपर समानभावसे है; परन्तु जबतक उसकी अपार दयाको मनुष्य पहचान नही लेता तबतक उसे उस दयासे लाभ नही होता । जैसे किसीके घरमे गड़ा हुआ धन है, परतु जबतक वह उसे जानता नही तबतक उसे कोई लाभ नही होता, परतु वही जब किसी जानकार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है । इसी प्रकार भगवान्‌की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्यनिरन्तर अभ्यास-से उसके समस्त सञ्चित पाप समूल नष्ट हो जाते है और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है ।

नाममें पापनाशकी स्वाभाविक शक्ति है

यहाँपर यदि कोई शङ्का करे कि यदि भगवान् भजन करने-वालेके पापोका नाश कर देते है या उसे माफी दे देते है तो क्या उनमें विषमताका दोष नही आता ? इसका उत्तर यह है कि जैसे अग्निमें जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति स्वाभाविक है इसी प्रकार भगवन्नाममें भी पापोंके नष्ट करनेकी स्वाभाविक शक्ति है । इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरेको प्रेमसे भजते हैं वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैसे शीतसे व्यथित अनेक पुरुषोमेंसे जो पुरुष अग्निके समीप जाकर अग्निका सेवन करता है उसीके शीतका निवारणकर अग्नि उसकी उस व्यथाको मिटा देती है; परन्तु जो अग्निके समीप नहीं जाते उनकी व्यथा नही मिटती । इससे अग्निमें कोई विषमताका दोष नहीं आता; क्योंकि वह सभीको अपना ताप देकर उनकी व्यथा निवारण करनेको सर्वदा तैयार है । कोई समीप ही न जाय तो अग्नि क्या करे ? इस प्रकार जो पुरुष भगवान्‌का भजन करता है उसीके अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान् उसके दुःखोंका सर्वथा नाश करके उसका कल्याण कर देते हैं । इसलिये भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नही आता ।

नाम-भजनसे ही ज्ञान हो जाता है

(शङ्का) यह बात मान ली गयी कि भगवन्नामसे पापोंका नाश होता है, परन्तु परमपदकी प्राप्ति उससे कैसे हो सकती है ? क्योकि परमपदकी प्राप्ति तो केवल ज्ञानसे होती है ।

(उत्तर) यह ठीक है । परमपदकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती

है; परंतु श्रद्धा, प्रेम और विश्वासपूर्वक निष्काम भावसे किये जानेवाले भजनके प्रभावसे भगवान् उसे अपना वह ज्ञान प्रदान करते हैं कि जिससे उसे भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वज्ञान हो जाता है और उससे उस साधकको परमपदकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्‍गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ९—११)

'निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले, मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जानते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए सन्तुष्ट होते है और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते है। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।

अतएव निरन्तर प्रेमपूर्वक निष्काम नामजप और स्वरूप-

चिन्तनसे स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको सत्वर ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है ।

नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नामजपके महत्त्वको नही समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते है । वे कहा करते है कि राम-राम करना और टायँ-टायँ करना एक समान ही है । साथ ही यह भी कहा करते है कि नामजपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है । इसी तरहकी और भी अनेक बाते कही जाती है ।

ऐसे भाइयोसे मेरी प्रार्थना है कि विना ही जाँच किये इस प्रकारसे नामजपकी निन्दाकर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करे, बल्कि कुछ समयतक नामजप करके देखे कि उससे क्या लाभ होता है । व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षाकर पाप-भाजन नही बनना चाहिये ।

नामजपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नामजप या भजनको अच्छा तो समझते है; परतु प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते । यह उनकी बड़ी भारी भूल है । इस प्रकार दुर्लभ परतु क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमे आलस्य करते है उन्हें क्या कहा जाय ? जीवनका सद्व्यय भजनमे ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नही लगेगा । कबीरजीने कहा है—

मरोगे मरि जाओगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे, छाड़ि बसन्ता गाम॥
आजकालकी पाँच दिन, जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास॥
आज कहे मैं काल भजूँ, काल कहे फिर काल।
आजकालके करत ही, औसर जासी चाल॥
काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब।
पलमें परलय होयगी, फेर भजेगा कब॥

अतएव आलस्य और प्रमादका परित्याग करके जिस-किस प्रकारसे भी हो, उठते, बैठते, सोते और सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करते हुए सदा-सर्वदा भजन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

'मा' बच्चोको भुलानेके लिये उनके सामने नाना प्रकारके खिलौने डाल देती है, कुछ खानेके पदार्थ उनके हाथमें दे देती है, जो बच्चे उन पदार्थोंमे रमकर 'मा' के लिये रोना छोड़ देते है, 'मा' भी उन्हे छोड़कर अपना दूसरा काम करने लगती है, परंतु जो बच्चा किसी भी भुलावेमे न भूलकर केवल 'मा-मा' पुकारा करता है, उसे 'मा' अवश्य ही अपनी गोदमे लेनेको बाध्य होती है, ऐसे जिद्दी बच्चेके पास घरके सारे आवश्यक कामोंको छोड़कर भी माको तुरंत आना और उसे अपने हृदयसे लगाकर दुलारना पड़ता है; क्योंकि माता इस बातको जानती है कि यह बच्चा मेरे सिवा और विषयमें भी नही भूलता है।

इसी प्रकार भगवान् भी भक्तकी परीक्षाके लिए उसकी इच्छानुसार उसे अनेक प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर भुलाना चाहते है। जो उनमें भूल जाता है वह तो इस परीक्षामे अनुत्तीर्ण होता है; परंतु जो भाग्यवान् भक्त संसारके समस्त पदार्थोंको तुच्छ, क्षणिक और नाशवान् समझकर उन्हे लात मार देता है और प्रेममें मग्न होकर सच्चे मनसे उस सच्चिदानन्दमयी मातासे मिलनेके लिये ही लगातार रोया करता है, ऐसे भक्तके लिये सम्पूर्ण कामोंको छोड़कर भगवान्‌को स्वयं तुरंत आना पड़ता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं—

> केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार।
> रात दिवसके कूकते, कभी तो सुनें पुकार॥
> राम नाम रटते रहो, जबलग घटमें प्रान।
> कबहुँ तो दीनदयालके, भनक परेगी कान॥

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके लड्डू समझते हुए उनसे मन हटाकर श्रीपरमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है, दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी है, भजनेवालेके ही पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये ?

यह कथन युक्तियुक्त नही है। संसारके बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने उपासकोंको बाह्य धनादि पदार्थ देकर सन्तुष्ट

करते है; परतु भगवान् ऐसा नही करते, उनका तो यह नियम है कि उनको जो जिस भावसे भजता है उसको वे भी उसी भावसे भजते है ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

(गीता ४ । ११)

परमात्मा छोटे-बड़ेका कोई ख्याल नही करते । एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति परमात्माको जिस भावसे भजता है, उनके साथ जैसा वर्ताव करता है, वे भी उसको वैसे ही भजते और वैसा ही बर्ताव करते हैं । यदि कोई उनके लिये रोकर व्याकुल होता है तो वे भी उससे मिलनेके लिये उसी प्रकार अकुला उठते हैं । यह उनकी कितनी दयाकी बात है ।

अतएव इस अनित्य, क्षणभङ्गुर, नाशवान् संसारके समस्त मिथ्या भोगोको छोड़कर उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी शुद्ध परम दयालु सच्चे प्रेमी परमात्माके पावन नामका निष्काम प्रेमभावसे ध्यानसहित सदा-सर्वदा जप करते रहना चाहिये ।

ससारके समस्त दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप ही सर्वोपरि युक्तियुक्त साधन है ।

भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं

बहुत-से सज्जन मनमें शङ्का उत्पन्न कर इस प्रकारके प्रश्न किया करते है कि दो प्यारे मित्र जैसे आपसमें मिलते है क्या इसी प्रकार इस कलिकालमें भी भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन मिल सकते हैं ? यदि सम्भव है तो ऐसा कौन-सा उपाय है कि जिससे हम उस मनोमोहिनी मूर्तिका शीघ्र ही दर्शन कर सके ? साथ ही यह भी जानना चाहते हैं, क्या वर्तमान कालमें ऐसा कोई पुरुष संसारमें है जिसको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान् मिले हो ?

वास्तवमे तो इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर वे ही महान् पुरुष दे सकते हैं जिनको भगवान्‌की उस मनोमोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन हुआ हो ।

यद्यपि मै एक साधारण व्यक्ति हूँ तथापि परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे केवल अपने मनोविनोदार्थ तीनों प्रश्नोके सम्बन्धमे क्रमशः कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ ।

(१) जिस तरह सत्ययुग आदिमे ध्रुव, प्रह्लादादिको साक्षात् दर्शन होनेके प्रमाण मिलते हैं उसी तरह कलियुगमे भी सूरदास, तुलसीदासादि बहुत-से भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन होनेका इतिहास मिलता है, बल्कि विष्णुपुराणादिमे तो सत्ययुगादिकी अपेक्षा कलियुगमे भगवत्-दर्शन होना बड़ा ही सुगम बताया है । श्रीमद्भागवतमे भी कहा है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(१२ । ३ । ५२)

'सतयुगमे निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञद्वारा यजन करनेसे और द्वापरमें पूजा (उपासना) करनेसे जिस परमगति-की प्राप्ति होती है वही कलियुगमें केवल नाम-कीर्तनसे मिल जाती है ।

जैसे अरणीकी लकड़ियोंको मथनेसे अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार सच्चे हृदयकी प्रेमपूरित पुकारकी रगड़से अर्थात् उस भगवान्के प्रेममय नामोच्चारणकी गम्भीर ध्वनिके प्रभावसे भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं । महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगदर्शनमें कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः । (२ । ४४)

'नामोच्चारसे इष्टदेव परमेश्वरके साक्षात् दर्शन होते है ।'

जिस तरह सत्य-सङ्कल्पवाला योगी जिस वस्तुके लिये सङ्कल्प करता है वही वस्तु प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है, उसी तरह शुद्ध अन्तःकरणवाला भगवान्का सच्चा अनन्य प्रेमी भक्त जिस समय भगवान्के प्रेममे मग्न होकर भगवान्की जिस प्रेममयी मूर्तिके दर्शन करनेकी इच्छा करता है उस रूपमें ही भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते है । गीता अध्याय ११ श्लोक ५४ में भगवान्ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार

(चतुर्भुज) रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

एक प्रेमी मनुष्यको यदि अपने दूसरे प्रेमीसे मिलनेकी उत्कट इच्छा हो जाती है और यह खबर यदि दूसरे प्रेमीको मालूम हो जाती है तो वह स्वय विना मिले नही रह सकता; फिर भला यह कैसे सम्भव है कि जिसके समान प्रेमके रहस्यको कोई भी नही जानता वह प्रेममूर्ति परमेश्वर अपने प्रेमी भक्तसे विना मिले रह सके ?

अतएव सिद्ध होता है कि वह प्रेममूर्ति परमेश्वर सब काल तथा सब देशमे सब मनुष्योंको भक्तिवश होकर अवश्य ही प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं ।

(२) भगवान्‌के मिलनेके बहुत-से उपायोमेसे सर्वोत्तम उपाय है 'सच्चाप्रेम'। उसीको शास्त्रकारोंने अव्यभिचारिणी भक्ति,भगवान्‌में अनुरक्ति, प्रेमा भक्ति और विशुद्ध भक्ति आदि नामोसे कहा है ।

जब सत्सङ्ग, भजन, चिन्तन, निर्मलता, वैराग्य, उपरति उत्कट इच्छा और परमेश्वरविषयक व्याकुलता क्रमसे होती है तब भगवान्‌मे सच्चा विशुद्ध प्रेम होता है ।

शोक तो इस बातका है कि बहुत-से भाइयोंको तो भगवान्‌के अस्तित्वमें ही विश्वास नही है । कितने भाइयोंको यदि विश्वास है भी, तो वे क्षणभङ्गुर नाशवान् विषयोके मिथ्या सुख मे लिप्त रहनेके कारण उस प्राणप्यारेके मिलनेके प्रभावको और महत्त्वको ही नही जानते । यदि कोई कुछ सुन-सुनाकर तथा कुछ विश्वास करके उसके प्रभावको कुछ जान भी लेते है तो अल्प चेष्टासे ही सन्तुष्ट होकर

वैठ जाते हैं या थोड़े-से साधनोंमें ही निराश-से हो जाया करते है। द्रव्य-उपार्जनके बराबर भी परिश्रम नहीं करते ।

वहुत-से भाई कहा करते हैं कि हमने वहुत चेष्टा की; परन्तु प्राणप्यारे परमेश्वरके दर्शन नहीं हुए। उनसे यदि पूछा जाय कि क्या तुमने फाँसीके मामलेसे छूटनेकी तरह भी कभी सांसारिक जन्म-मरणरूपी फाँसीसे छूटनेकी चेष्टा की ? घृणास्पद, निन्दनीय स्त्रीके प्रेमके वशीभूत होकर उसके मिलनेकी चेष्टाके समान भी कभी भगवान्‌से मिलनेकी चेष्टा की ? यदि नही, तो फिर यह कहना कि भगवान् नहीं मिलते, सर्वथा व्यर्थ है

जो मनुष्य शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्मके सदृश भगवान्‌के ध्यानमें मस्त होते हैं, भगवान् भी उनके ध्यानमे उसी तरह मग्न हो जाते है, गीता अध्याय ४ श्लोक मे भी भगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

हे अर्जुन! जो मुझकोजैसे भजते है मैंभी उनको वैसेही भजता हूँ।

भगवान्‌के निरन्तर नामोच्चारके प्रभावसे जब क्षण-क्षणमे रोमाञ्च होने लगते है, तब उसके सम्पूर्ण पापोका नाश होकर उसको भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। विरह-वेदनासे अत्यन्त व्याकुल होनेके कारण नेत्रोंसे अश्रुधारा वहने लग जाती है तथा जब वह त्रैलोक्यके ऐश्वर्यको लात मारकर गोपियोंकी तरह पागल हुआ विचरता है और जलसे वाहर निकाली हुई मछलीके समान भगवान्‌के लिये तड़पने लगता है, उसी समय

आनन्दकन्द प्यारे श्यामसुन्दरकी मोहिनी मूर्तिका दर्शन होता है। यही है उस भगवान्‌से मिलनेका सच्चा उपाय।

यदि किसीको भी भगवान्‌के मिलनेकी सच्ची इच्छा हो तो उसे चाहिये कि वह रुक्मिणी, सीता और व्रजबालाओंकी तरह सच्चे प्रेमपूरित हृदयसे भगवान्‌से मिलनेके लिये विलाप करे।

(३) यद्यपि प्रकटमें तो ऐसे पुरुष कलिकालमें नहीं दिखायी देते जिनको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए हों, तथापि सर्वथा न हों यह भी सम्भव नही है; क्योंकि प्रह्लाद आदिकी तरह हजारोंमेसे कोई कारणविशेषसे ही किसी एककी लोकप्रसिद्धि हो जाया करती है, नही तो ऐसे लोग इस बातको विख्यात करनेके लिये अपना कोई प्रयोजन ही नहीं समझते।

यदि यह कहा जाय कि संसार-हितके लिये सबको यह जताना उचित है, सो ठीक है, परंतु ऐसे श्रद्धालु श्रोता भी मिलने कठिन है तथा बिना पात्रके विश्वास होना भी कठिन है। यदि बिना पात्रके कहना आरम्भ कर दिया जाय तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता और न कोई विश्वास ही करता है।

अतः हमें विश्वास करना चाहिये कि ऐसे पुरुष संसारमें अवश्य हैं, जिनको उपर्युक्त प्रकारसे दर्शन हुए हैं। परंतु उनके न मिलनेमे हमारी अश्रद्धा ही हेतु है और न विश्वास करनेकी अपेक्षा विश्वास करना ही सबके लिये लाभदायक है, क्योंकि भगवान्‌से सच्चा प्रेम होनेमे तथा दो मित्रोंकी तरह भगवान्‌की मनमोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमे विश्वास ही मूल कारण है।

प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय

आनन्दमय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होनेके लिये सर्वोत्तम उपाय 'सच्चा प्रेम' है। वह प्रेम किस प्रकार होना चाहिये और कैसे प्रेमसे भगवान् प्रकट होकर प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं? इस विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन किया जाता है।

अनेक विघ्न उपस्थित होनेपर भी ध्रुवकी तरह भगवान्‌के ध्यानमें अचल रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भक्त प्रह्लादकी तरह राम-नामपर आनन्दपूर्वक सब प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये एवं तीक्ष्ण तलवारकी धारसे मस्तक कटानेके लिये सर्वदा प्रस्तुत रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीलक्ष्मणकी तरह कामिनी-काञ्चनको त्यागकर भगवान्‌के लिये वन-गमन करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

ऋषिकुमार सुतीक्ष्णकी तरह प्रेमोन्मत्त होकर विचरनेसे भगवान् मिल सकते हैं।

श्रीरामके शुभागमनके समाचारसे सुतीक्ष्णकी कैसी विलक्षण स्थिति होती है इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें किया है। भगवान् शिवजी उमासे कहते हैं—

होइहैं सुफल आजु मम लोचन।
देखि बदन पंकज भव मोचन॥

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥

कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

तब रघुनाथ निकट चलि आए।
देखि दसा निज जन मन भाए॥

राम सुसाहिब संत प्रिय सेवक दुख दारिद दवन।
मुनि सन प्रभु कह आइ उठु उठु द्विज मम प्रान सम॥

श्रीहनुमान्‌जीकी तरह प्रेममें विह्वल होकर अति श्रद्धासे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

कुमार भरतकी तरह राम-दर्शनके लिये प्रेममे विह्वल होनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते है। चौदह सालकी अवधि पूरी होने-

के समय प्रेममूर्ति भरतजीकी कैसी विलक्षण दशा थी, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बहुत अच्छा किया है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

हनुमान्‌के साथ वार्तालाप होनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीसे भरत-मिलाप होनेके समयका वर्णन इस प्रकार है। शिवजी महाराज देवी पार्वतीसे कहते हैं—

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
बूझत कृपानिधि कुशल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

मान-प्रतिष्ठाको त्यागकर श्रीअक्रूरजीकी तरह भगवान्‌के चरण-कमलोंसे चिह्नित रजमें लोटनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥
देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्॥
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २५—२७)

जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपालजन आदरपूर्वक मस्तकपर चढाते हैं ऐसे पृथ्वीके आभूषणरूप पद्म,

यव, अङ्कुशादि अपूर्व रेखाओंसे अङ्कित श्रीकृष्णके चरणचिन्होंको गोकुलमें प्रवेश करते समय अक्रूरजीने देखा ।

उनको देखते ही आह्लादसे व्याकुलता बढ़ गयी, प्रेमसे शरीरमे रोमाञ्च हो आये, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगे । अहो ! यह प्रभुके चरणोंकी धूलि है ऐसे कहते हुए रथसे उतरकर अक्रूरजी वहाँ लोटने लगे ।

देहधारियोंका यही एक प्रयोजन है कि गुरुके उपदेशानुसार निर्दम्भ, निर्भय और विगतशोक होकर भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिका दर्शन और उनके गुणोंका श्रवणादि करके अक्रूरकी भाँति हरिकी भक्ति करें ।

गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगके अभिमानको त्यागनेवाले उद्धवकी तरह प्रेममें विह्वल होनेपर भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते है ।

एक पलको प्रलयके समान बितानेवाली रुक्मिणीके सदृश श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये हार्दिक विलाप करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते है ।

महात्माओकी आज्ञामे तत्पर हुए राजा मयूरध्वजकी तरह मौका पडनेपर अपने पुत्रका मस्तक चीरनेमें भी नही हिचकनेवाले प्रेमी भक्तको भगवान् दर्शन दे सकते है ।

श्रीनरसी मेहताकी तरह, लज्जा, मान, वडाई और भयको छोड़कर भगवान्‌के गुण-गानमें मग्न होकर विचरनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं ।

'वी० ए०', 'एम० ए', 'आचार्य' आदि परीक्षाओंकी जगह भक्त प्रह्लादकी तरह नवधा भक्तिकी* सच्ची परीक्षा देनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भगवान् केवल दर्शन ही नहीं देते वरं द्रौपदी, गजेन्द्र, शबरी, विदुरादिकी तरह प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुओंको वे स्वयं प्रकट होकर खा सकते है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन·॥

(गीता ९। २६)

पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। अतएव सबको चाहिये कि परम प्रेम और उत्कण्ठाके साथ भगवद्दर्शनके लिए व्याकुल हों।

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

उपासनाका तत्त्व

शास्त्र और महात्माओंके अनुभवसे यह सिद्ध है कि साकार और निराकार दोनों प्रकारके उपासकोंको परमगति प्राप्त हो सकती है। साकारके उपासकको सगुण भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते है, निराकारके उपासकको उसकी इच्छा न रहनेके कारण नही होते। साकार ईश्वरकी उपासना ईश्वरका प्रभाव समझकर की जानेसे सफलता शीघ्र होती है। साकार ईश्वरके प्रभावको समझनेका यही मतलब है कि साधक उस एक ईश्वरको ही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् समझे। जिस शिव या विष्णुरूपकी वह उपासना करे, उसके लिये उसे यह न समझना चाहिए कि मेरा इष्टदेव ईश्वर केवल इस मूर्तिमे ही है, और कही नही है। ईश्वरमे इस तरहकी परिमित बुद्धि एक तरहका तामस ज्ञान है। गीता अध्याय १८ श्लोक २२ मे इसकी निन्दा की गयी है। इसका यह अर्थ नही कि मूर्तिपूजा नही करनी चाहिये अथवा कोई भाई सरलभावसे तत्त्व न समझकर केवल मूर्तिमात्रमें ईश्वर समझकर ही उसकी उपासना न करे। किसी भी भाँति उपासनामे प्रवृत्त होना तो सर्वथा उपासना न करनेकी अपेक्षा उत्तम ही है, परन्तु यह ज्ञान अल्प होनेके कारण इससे की हुई उपासना का फल बहुत देरसे होता है। अल्पज्ञानकी उपासनामें यदि हानि है तो केवल

यही है कि इसकी सफलतामें विलम्ब हो जाता है; क्योंकि इसमें उपासक उपास्य वस्तुका महत्त्व कम देता है।

कोई अग्निका उपासक यज्ञके लिये अग्नि प्रज्वलित करके यदि यह मान ले कि बस, यही इतनी ही दूरमें अग्नि है, और कहीं नहीं है तो इससे वह अग्निका महत्त्व कम करता है, वह एक व्यापक वस्तुको छोटी-सी सीमामें बाँध देता है। इसके विपरीत जो उपासक यह समझता है कि अग्नि वास्तवमें सर्वत्र व्यापक है; परन्तु अव्यक्त होनेके कारण सब जगह दीखता नहीं। प्रकट होनेपर ही दीखता है और चेष्टा करते ही वह प्रकट हो सकता है। यदि अभाव होता तो वह किसी भी जगह किसी भी वस्तुमें प्रकट कैसे होता ? जैसे प्रज्वलित अग्नि हवनकुण्डमें दीखता है, परन्तु है सर्वत्र। इसी प्रकार भगवान् भी निराकार रूपसे सर्वत्र समभावसे व्याप्त हैं, भक्तके प्रेमसे साकार रूपसे प्रत्यक्ष होते हैं। निराकार ही साकार है और साकार ही निराकार है। इस प्रकार समझना ही साकारका प्रभाव समझना है। असलमें ईश्वरके साथ अग्निकी तुलना नही की जा सकती। यह तो एक दृष्टान्तमात्र है; क्योंकि अग्नि परमात्माकी भाँति सर्वव्यापी नहीं है। एक स्थानमें पाँच वस्तुएँ सर्वव्यापी नही हो सकती। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि अपने-अपने रूपमें स्थित हैं। पृथ्वीका प्रधान गुण गन्ध है, अग्निका रूप है, सर्वव्यापी परमात्मा तो कारणका भी महाकारण है इसलिए वह सबमें स्थित है। कार्य कभी सर्वव्यापी नहीं होता, व्यापक कारण होता है। जगत्का कारण प्रकृति है;

परन्तु परमात्मा तो उसका भी कारण होनेसे महाकारण है। प्रकृति जड़ होनेसे अपने जडकार्यका कारण हो सकती है; परन्तु वह चैतन्य परमात्माका कारण नही हो सकती। अतएव परमात्मा ही सबका महाकारण है; वही जड़-चेतन सबमें सदा पूर्णरूपसे स्थित है। सबके नाश होनेपर भी उसका नाश नही होता, वह नित्य अनादि है।

निराकार ब्रह्मका स्वरूप सत्, विज्ञान, अनन्त, आनान्दघन है। 'सत,' उसे कहते है, जिसका कभी अभाव या परिवर्तन न हो, जिसमें कभी कोई विकार न हो और जो सदा एकरस एक-रूप रहे। 'विज्ञान' से बोध, चेतन, शुद्ध ज्ञान समझना चाहिए। 'अनन्त' उसे कहते हैं, जिसकी कोई सीमा न हो, कोई माप-तौल न हो जिसका कही आदि-अन्त न हो, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्-से-महान् हो, समस्त ससार जिसके एक अंशमे स्थित हो। 'आनन्दघन' से केवल आनन्द-ही आनन्द समझना चाहिये, 'घन' का अर्थ यह है कि उसमे आनन्दके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको किसी प्रकार भी अवकाश नहीं है, जैसे वर्फमे जल घन है इसी प्रकार परमात्मा आनन्दघन है। वर्फ तो साकार जड कठोर है, परन्तु परमात्मा चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, निराकार है। इस प्रकारका निराकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है।

परमात्माकी आनन्दरूपताका वर्णन नही हो सकता, वह अनिर्वचनीय है। यदि आपको किसी समय किसी कारणसे महान् आनन्दकी प्राप्ति हुई हो तो उसे स्मरण कीजिये। उससे बड़ा

आनन्द वह है जो सच्चे मनसे किये हुए सत्संग, भजन या ध्यान-द्वारा उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन गीताके अध्याय १८ श्लोक ३६, ३७ मे है। इस सुखके सामने भोग-सुख सूर्यके सामने खद्योतके सदृश भी नही है। परतु यह सुख भी उस परम आनन्दरूप ब्रह्मका एक अणुमात्र ही है; क्योंकि ब्रह्मानन्दके अतिरिक्त अन्य आनन्दघन नही है, एक सीमामें है, उनमें दूसरोंका अवकाश है ?

इसी आनन्दरूप परमात्माका सब विस्तार है। इस परमात्मामे ससारमे वैसे ही समाया हुआ है, जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब। वास्तवमें है नही, समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। दर्पण तो जड़ और कठोर है; परंतु वह परमात्मा परम सुखरूप होनेपर भी चेतन है तथा वह इस प्रकार घनरूपसे व्याप्त है कि उसकी किसीसे तुलना ही नहीं की जा सकती। उसकी घनता किसी पत्थर, शिला, वर्फ आदि-जैसी नही है, इसमे तो अन्य पदार्थोंके लिये गुंजाइश भी है परंतु उसमे किसीके लिये कुछ भी गुंजाइश नहीं है। जैसे इस शरीरमे 'मैं' (आत्मा) इतना सूक्ष्म घन है कि उनके अंदर दूसरेको कभी स्थान नही मिल सकता। शरीर, मन, बुद्धि आदिमे किसी दूसरेका प्रवेश हो सकता है; परतु उस आत्मामें किसीका प्रवेश किसी प्रकार भी सम्भव नही है। इसी प्रकार वह सर्वव्यापी निराकार परमात्मा भी घन है।

उसकी चेतनता भी विलक्षण है। इस शरीरमे जितनी वस्तुएं है वह सब जड़ है, इनको जाननेवाला चेतन है। जो पदार्थ किसीके द्वारा जाना जाता है वह जड़ है, दृश्य है, वह

आत्माको नही जान सकता। हाथ-पैर आत्माको नहीं जानते, पर आत्मा उनको जानता है। वही सबको जानता है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है, वह ज्ञान ही परमेश्वर है जो सब जगह है। ऐसी कोई जगह नही है जो उससे रहित हो, इसीसे श्रुति उसे कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

वही ब्रह्म भक्तोंके प्रेमवश उनके उद्धारार्थ साकाररूपसे प्रकट होकर उन्हे दर्शन देते है। उनके साकार रूपोंका वर्णन मनुष्यकी बुद्धिके वाहर है; क्योंकि वह अनन्त हैं। भक्त जिस रूपसे उन्हें देखना चाहता है वह उसी रूपमे प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देते है। भगवान्‌का साकार रूप धारण करना भगवान्‌के अधीन नही, पर प्रेमी भक्तोके अधीन है। अर्जुनने पहले विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा प्रकट की, फिर चतुर्भुजकी और तदनन्तर द्विभुजकी। भक्तभावनभगवान् कृष्णने अर्जुनको उसके इच्छानुसार थोड़ी ही देरमें तीनो रूपोसे दर्शन दे दिये और उसे निराकारका भाव भी भलीभाँति समझा दिया। इसी प्रकार जो भक्त परमात्माके जिस स्वरूपकी उपासना करता है, उसको उसी रूपके दर्शन हो सकते हैं।

अतएव उपासनाके स्वरूप-परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नही। भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, देवी, गणेश आदि किसी भी रूपकी उपासनाकी जाय, सब उसीकी होती है। भजनमे कुछ भी वदलनेकी जरूरत नही है। वदलनेकी जरूरत है यदि परमात्मामे अल्पबुद्धि हो तो उसकी। भक्तको

चाहिये वह अपने इष्टदेवकी उपासना करता हुआ सदा यह समझता रहे कि मैं जिस परमात्माकी उपासना करता हूँ वही परमेश्वर निराकाररूपसे चराचरमें व्यापक है, सर्वज्ञ है, सब कुछ उसीकी दृष्टिमें हो रहा है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत् चित्, आनन्दघन मेरा इष्टदेव परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोके उद्धारके लिये उनके इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारणकर अनेक लीला करता है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषके लिये परमात्मा कभी अदृश्य नही होते और न वह कभी परमात्मासे अदृश्य होता है।

श्रीभगवान्ने स्वय कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मेन प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुप सम्पूर्ण भूतोंमे सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवको अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नही होता और वह मेरे लिये अदृश्य नही होता; क्योंकि वह एकीभावसे मुझमें ही स्थित है।' निराकार-साकारमे कोई अन्तर नही है, जो भगवान् निराकार है वही साकार बनते हैं।

भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्॥
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मै अविनाशीस्वरूप अजन्मा और सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' क्यों प्रकट होते है ? इस प्रश्नका उत्तर भी भगवान् ही देते हैं–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

(गीता ४ । ७-८)

'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार और दूषित कर्म करनेवालोंका नाशकरने तथा धर्म-स्थापनके लिये मैं युग-युगमे प्रकट होता हूँ।'

इस प्रकार अविनाशी निर्विकार परमात्मा जगत्के उद्धारके लिये भक्तोंके प्रेमवश अपनी इच्छासे आप अवतीर्ण होते है। वे प्रेममय हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया प्रेम और दयासे ओतप्रोत है। वे जिनका संहार करते है उनका भी उद्धार ही करते हैं। उनका संहार भी परम प्रेमका ही उपहार है, परन्तु अज्ञ जगत् उनके दिव्य जन्म-कर्मोकी लीलाका यथार्थ रहस्य न समझकर नाना प्रकारके सन्देह करता है। भगवान् कहते हैं––

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।

(गीता ४ । ९)

'हे अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीर त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह तो मुझे ही प्राप्त होता है।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतोंके परमगति और परम आश्रय हैं। वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं। अतएव उन परमेश्वरके समान सुहृद, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, यों समझकर जो पुरुष उनका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्ति-रहित होकर संसारमें बर्तता है वही वास्तवमें उनको तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषको इस दुःखरूप संसारमें फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

भगवान्‌के जन्म-कर्म कैसे दिव्य हैं, इस तत्त्वको जो समझ लेता है वही सच्चा भाग्यवान् पुरुष है। उज्ज्वल, प्रकाशमय, विशुद्ध, अलौकिक आदि शब्द दिव्यके पर्यायवाची हैं। भगवान्‌के जन्म-कर्मोंमें ये सभी घटित होते हैं। उनके कर्म संसारमें विस्तृत होकर सबके हृदयोंपर असर करते हैं, कर्मोंकी कीर्ति ब्रह्माण्डभरमें छा जाती है, जो उनका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनका हृदय भी उज्ज्वल बन जाता है। इसलिये वे उज्ज्वल हैं। उनकी लीलाका जितना ही अधिक विस्तार होता है, उतना ही अन्धकारका नाश होता है। जहाँ सदा हरि-लीला-कथा होती है वहाँ ज्ञान-सूर्यका प्रकाश छा जाता है, पाप-तापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसलिये वे प्रकाशमय हैं। उनके कर्मोंमें किसी

प्रकारका स्वार्थ या अपना प्रयोजन नही है, कोई कामना नही है, किसी पापका लेश नही है, मलरहित हैं, इसलिये वे शुद्ध है। उनके-जैसे कर्म जगत्‌मे कोई नही कर सकता। ब्रह्मा, इन्द्रादि भी उनके कर्मोको देखकर मोहित हो जाते है। जगत्‌के लोगोकी कल्पनामें भी जो वात नही आ सकती, जो विल्कुल असम्भव है, उसको भी सम्भव कर देते है, अघटन घटा देते है, जीवन्मुक्त या कारक सवकी अपेक्षा अद्‌भुत है इसलिये वे अलौकिक है। उनका अवतार सर्वथा शुद्ध है। अपनी लीलासे ही आप प्रकट होते है। वे प्रेमरूप होकर ही सगुणरूपमें प्रकट होते है। प्रेम ही उनकी महिमामयी मूर्ति है, इसलिये प्रेमी पुरुप ही उनको पहचान सकते है। इस तत्त्वको समझकर जो प्रेमसे उनकी उपासना करते है, वे भाग्यवान् वहुत ही शीघ्र उन प्रेममयके प्रेमपूर्ण वदनारविन्दका दर्शन कर कृतार्थ होते है। अतएव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सब उनके चारु चरणोंमे अर्पण कर दिन-रात उन्हीके चिन्तनमें लगे रहना चाहिये। उनका प्रेमपूर्ण आदेश और आश्वासन स्मरण कीजिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशयः।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

'मुझमे मन लगा दो, मुझमे ही बुद्धि लगा दो, ऐसा करनेपर मुझमें ही निवास करोगे अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमे कुछ भी सशय नही है।'

———

सच्चा सुख

और

उसकी प्राप्ति के उपाय

भौतिक सुखसे हानि

इस समय क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित प्रायः अधिकांश जनसमुदाय सांसारिक भोग-विलासको ही सच्चा सुख समझकर केवल भौतिक उन्नतिकी चेष्टामें ही प्रवृत्त हो रहा है, इस परम सत्यको लोग भूल गये हैं कि यह विषयेन्द्रिय-सयोग-जनित भौतिक सुख नाशवान्, क्षणिक और परिणाममें सर्वथा दुःखरूप हैं।

आजकल हमारे अनेक पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त विद्वान् देशबन्धु जो अपनेको विचारशील, तर्कनिपुण और बुद्धिमान समझते हैं, अंग्रेजोके सहवाससे तथा उनकी विलासप्रियता और जड़-इन्द्रिय-चरितार्थताको देखकर पाश्चात्य-सभ्यताकी माया-मरीचिकापर मोहित हो रहे है और वेद-शास्त्रकथित धर्मके सूक्ष्म-तत्त्वको न समझकर प्राचीन आदर्श सभ्यताकी अवहेलना कर रहे है ! उनके हृदयसे यह विश्वास प्राय. उठ गया है कि हमारे प्राचीन त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोकी विचारशीलता, तर्कपटुता और बुद्धिमत्ता हमलोगोंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी और उन्होने हमारे उत्कर्षके लिये जो पथ

बतलाया है वही हमलोगोंके लिये सच्चे सुखकी प्राप्तिका यथार्थ मार्ग है । ऐसे विचार रखनेवाले बन्धुओंको समझाकर अपने प्राचीन आदर्शकी ओर आकर्षित करनेकी विशेष आवश्यकता है और इसीसे सबका मगल है ।

प्रिय बन्धुगण ! विचार करनेपर आपको यह विदित हो जायगा कि पाश्चात्य सभ्यता वास्तवमें हमारे देश, धर्म, धन, सुख और हमारी जाति तथा आयुका विनाश करनेवाली है, इस सभ्यता के ससर्गसे ही आज हमारा देश अपने चिरकालीन धर्म-पथसे विचलित होकर अधोगतिकी ओर जा रहा है । इसीसे आज हमारी धर्मप्राण जाति अनोर्योचित कायरता और भोग-परायणताकी ओर अग्रसर होती हुई दिखाई दे रही है । इस प्रकार जो सभ्यता हमारे सांसारिक सुखोंका भी विनाश कर रही है उससे सच्चे सुखकी आशा करना तो विडम्बनामात्र है ।

जातिका नाश होता है अपने वेष-भाषा, खान-पान और आचारके त्याग देनेसे । जो जाति इन चारोंकी रक्षा करती हुई अपने आदर्शसे स्खलित नहीं होती उसके अस्तित्त्वका नाश होना बड़ा कठिन होता है । अतएव हमे अपने प्राचीन ऋषि-मुनियोद्वारा आचरित रहन-सहन, वेष-भूषा और स्वभाव-सभ्यताका ही अनुकरण करना चाहिए । स्वधर्मका त्याग करना किसी भी अवस्थामें उचित नही । भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

> श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
>
> (३ । ३५)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना (भी) कल्याण-कारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

मुसल्मानोंके शासनके समय जब हिन्दुओंने उनके रहन-सहन और स्वभाव-सभ्यताकी नकल करना आरम्भ किया, तभीसे हिन्दूजाति और हिन्दूधर्मका ह्रास होने लगा। देखते-देखते आठ करोड़ हिंदू भाई मुसल्मानोंके रूपमे बदल गये। जो लोग गो, ब्राह्मण और देवमन्दिरोके रक्षक थे, वे ही उलटे उन सबके शत्रु बन गये। यह सब मुसल्मानी सभ्यताके और उनके आचार-विचारों-के अनुकरण करनेका ही दुष्परिणाम है।

फिर अंग्रेजी राज्य हुआ। अब स्वराज्य हो गया। अंग्रेज यहाँसे चले गये, पर अंग्रेजियत ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इसी कारण हमारी जातिमें आज अंग्रेजी वेष-भाषा, खान-पान और आचार-विचारोंका बड़े जोरके साथ विस्तार हो रहा है। इसीके साथ-साथ हिंदूधर्म और हिंदूजातिका ह्रास तथा ईसाई-धर्मका बेहद प्रचार हो रहा है। यह दुर्दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नही। दूसरोंके अनुकरणमें अपने जातीय भावको छोड़नेका यही परिणाम हुआ करता है।

अतएव सबको यह बात निश्चितरूपसे समझ लेनी चाहिये कि पाश्चात्त्य सभ्यता और उसका अनुकरण हमारे लिये किसी प्रकार भी हितकर नही है। इससे हमारे धर्ममय भावोंका विनाश होता है और हमे केवल भौतिक उन्नतिके पीछे भटककर सच्चे लाभसे वञ्चित रहनेको बाध्य होना पड़ता है।

सच्चा सुख

विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ सकता है कि मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिसे कोई अत्यन्त ही उत्तम लाभ होना चाहिये। खाना, पीना, सोना, मैथुन करना आदि सांसारिक भोगजनित सुख तो पशु-कीटादितक नीच योनियोमें भी मिल सकते है। यदि मनुष्य-जीवनकी आयु भी इसी सुखकी प्राप्तिमे चली गयी तो मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया ? मनुष्य-जन्मका परम ध्येय तो उस अनुपमेय और सच्चे सुखको प्राप्त करना है, जिसके समान कोई दूसरा सुख है ही नहीं। वह सुख है 'श्रीपरमात्माकी प्राप्ति'।

साधनमें क्यों नहीं लगते ?

इतना होनेपर भी अधिकांश लोग केवल धन, स्त्री और पुत्रादि विषयजन्य सुखको ही परमसुख मानकर उसीसे मोहित रहते है। असली सुखके लिये यत्न करनेवाले कर्तव्यपरायण पुरुष तो कोई विरले ही निकलते है।

श्रीभगवान्ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारो मनुष्योमे कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोमे भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे

भगवान्‌के कथनानुसार आजकल भी जो कुछ थोड़े-बहुत सज्जन इस सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते है, उनमेंसे भी विरले ही आखिरी मंजिलतक पहुँचते है। अधिकांश साधक तो थोड़ा-सा साधन करके ही रुक जाते है। वे अपनेको अधिक उन्नत स्थितिमें नही ले जा सकते। मेरी समझसे इसमें निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) संसारमें इस सिद्धान्तके सुयोग्य प्रचारक कम हैं; क्योंकि इसके प्रचारक त्यागी, विद्वान्, सदाचारी, परिश्रमी और सच्चे महापुरुष ही हो सकते है।

(२) साधकगण थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य समझकर अधिक साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते।

(३) कुछ साधक थोड़ा-सा साधन करके उकता जाते है, इस साधनसे अपनी विशेष उन्नति नही समझकर वे 'किंकर्तव्यविमूढ़' हो जाते हैं।

(४) सच्चे सुखमें लोगोंकी श्रद्धा ही बहुत कम होती है। कारण, विषयसुखोंकी भाँति इसके साधनमें पहले ही सुख नही दीखता। इसीसे तत्परताका अभाव रहता है।

(५) कुछ लोग इस सुखको सम्पादन करना अपनी शक्तिसे बाहरकी बात समझते हैं, इसलिये निराश हो रहते है।

इसके सिवा और भी कई कारण बतलाये जा सकते है, परन्तु इन सबमे सच्चा कारण केवल अज्ञानता और अकर्मण्यता ही है। अतएव मनुष्यको सावधान होकर उत्साहके साथ कर्तव्यपरायण रहना चाहिए।

सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

(कठ० १ । ३ । १४)

'उठो (साधनके लिये प्रयत्नशील होओ), अज्ञान-निद्रासे जागो एवं श्रेष्ठ विद्वान् जिस मार्गको क्षुरकी तेज धारके समान दुर्लङ्घ्य, दुर्गम बताते हैं, उसको महापुरुषोंके पास जाकर समझो ।'

अतएव इस भगवत्-साक्षात्कारतारूप परम कल्याण और परम सुखकी प्राप्तिके साधनमें किञ्चित् भी विलम्ब नहीं करना चाहिए । यही मनुष्य-जन्मका परम कर्तव्य है, यही सबसे बड़ा और सच्चा सुख है । इसी सुखकी महिमा बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

(गीता ६ । २१)

इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है ।'

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(गीता ६ । २२)

'और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामे स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नही होता है।'

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

(गीता ६। २३)

'और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

यद्यपि इस सच्चे सुखकी प्राप्तिका उपाय कुछ कठिन है, परन्तु असाध्य नही है। श्रीपरमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे तो कठिन होनेपर भी वह सर्वथा सरल, सुखसाध्य और अत्यन्त सहज हो जाता है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(९। ३२-३३)

जाता है। श्रीगीताजीमे भगवान् स्वय प्रतिज्ञापूर्वक कहते है—

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य (और) शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवे, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त

होते है। फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन (परमगतिको) प्राप्त होते है। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

अतएव साधकको चाहिए कि वह परमात्मापर दृढ विश्वास करके उसकी शरण ग्रहणकर अपनी उन्नतिके प्रतिबन्धक कारणोंको निम्नलिखित उपायोंसे दूर करनेकी चेष्टा करे।

(१) साधककी धारणामे उसे ससारमे जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी महात्मा दीखे, उन्हीके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमे तत्परताके साथ लग जाय। उनके वचनोंमे पूर्ण विश्वास रक्खे, उनके समीप जाकर फिर 'किंकर्तव्यविमूढ़' न रहे, अपनी बुद्धिको प्रधानता न दे, उनका बतलाया हुआ साधन यदि ठीक समझमे न आवे तो नम्रता-पूर्वक पूछकर अपना समाधान कर ले और साधनमें लगनेपर भी यदि कुछ समयतक प्रत्यक्ष सुखकी प्रतीति न हो तो भी परिणाममे होनेवाले परम हितपर विश्वास करके उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कदापि विमुख न हो। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

(२) साधकको यह कभी नही सोचना चाहिये कि मुझे यह साधन किसी दिन छोड़ देना है। उसको यही समझना चाहिये कि यह साधन ही मेरा परम धन, परम कर्तव्य, परम अमृत, परम सुख और मेरे प्राणोंका परम आधार है। जो लोग यह समझते है कि परमात्माका ज्ञान होनेके बाद हमे साधनकी क्या आवश्यकता है, वे भूल करते है। जिस साधनद्वारा अन्तःकरणको परम शान्ति प्राप्त हुई है, भला, वह उसे क्योंकर छोड़ सकता है ? परमात्माकी प्राप्ति होनेके पश्चात् उस महापुरुषकी स्थिति देखकर तो दुराचारी मनुष्योंकी भी साधनमें प्रवृति हो जाया करती है, जिन्हें देखकर साधनहीन जन भी साधनमें लग जाते है, उनकी अपनी तो बात ही कौन-सी है ? इतना होनेपर भी जो पुरुष थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेते है, वे बड़ी भूलमें रहते हैं। इस भूलसे साधनमें वड़ा विघ्न होता है। यही भूल साधकका अधःपतन करनेवाली होती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

(३) साधकको इस वातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि कर्तव्यपरायण, भगवत् शरणागत पुरुषके लिये कोई भी कार्य दुःसाध्य नही है। वह वड़े-से-वड़ा काम भी सहजही में कर सकता है। यह शक्ति वास्तवमे प्रत्येक मनुष्यमें है। अपनी शक्तिका अभाव मानना मानो अपने-आपको नीचे गिराना है। उत्साही पुरुषके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य हो जाता है।

(४) प्रत्येक साधकको अपनी परीक्षा अपने-आप करते रहना चाहिये। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारकर देखनेपर अपने छिपे हुए दोष भी प्रत्यक्ष दीखने लग जाते है। साधकको देखना चाहिये कि मेरा मन अपने अधीन, शुद्ध, एकाग्र और विषयोसे विरक्त हुआ या नही। कारण, जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा अधिकार नही हो जाता तबतक परमात्माकी प्राप्ति बहुत दूर है। भगवान् कहते है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

(गीता ६ । ३६)

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।'

अतएव साधकको सबसे पहले मनको अपने अधीन, शुद्ध और एकाग्र बनाना चाहिए।* इसके लिये शास्त्रोंमें प्रधानतः दो उपाय बतलाये गये है—

(१) अभ्यास और (२) वैराग्य।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

(गीता ६ । ३५)

---

* गीताप्रेससे प्रकाशित 'मनको वश करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तकमे मनको रोकनेके बहुत-से उपाय बतलाये हैं।

'हे महावाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये वारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे (यह) वशमें होता है।'

इसी प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

(योग० १ । १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे उन (चित्तवृत्तियो) का निरोध होता है।'

अभ्यास और वैराग्यकी विस्तृत व्याख्या तो यथाक्रम उक्त ग्रन्थोंमे ही देखनी चाहिये; परंतु भगवान्ने अभ्यासका स्वरूप मुख्यतया इस प्रकार वतलाया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

(गीता ६ । २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस कारणसे सासारिक पदार्थोमे विचरता है उस-उससे रोककर (बारम्बार) परमात्मामें ही निरोध करे।'

वैराग्यके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'जो इन्द्रिय तथा विषयोंके सयोगसे उत्पन्न होनेवाले सव भोग है, वे यद्यपि विपयी पुरुषोको सुखरूप भासते है तो भी

निःसन्देह दुःखके ही हेतु है और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य है, इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यसे मनको शुद्ध, अपने अधीन, एकाग्र और वैराग्य-सम्पन्न बनाकर भगवान्‌के स्वरूपमें निरन्तर अचल-स्थिर कर देनेके लिये ध्यानका साधन करना चाहिये ।

जैसे श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

(गीता ६ । २४—२५)

'संङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमे करके क्रम-क्रमसे (अभ्यास करता हुआ) उपरामताको प्राप्त होवे (तथा) धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।

अभ्यास और वैराग्यके प्रभावसे मनके शुद्ध, स्वाधीन, एकाग्र और विरक्त हो जानेपर तो उसे परमात्माके चिन्तनमे लगाना परम सुगम हो ही जाता है; परतु उक्त दोनों उपायोंको पूर्णतया काममें न ला करके भी यदि मनुष्य केवल परमात्माकी शरण ग्रहणकर

उनके नाम-जप और स्वरूप-चिन्तनमे तत्पर हो जाय तो इस प्रकारके ध्यानसे ही सब कुछ हो सकता है। साधकका मन शीघ्र ही शुद्ध, एकाग्र और उसके अधीन हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

महर्षि पतञ्जलिने भी शीघ्रातिशीघ्र समाधि लगनेका उपाय बतलाते हुए कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(योग० १। २३)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य तो मनके निरोध करनेके उपाय है ही, जो साधक इन उपायोंको जितना अधिक काममे लाता है, उतना ही शीघ्र उसका मन निरुद्ध होता है; परंतु ईश्वरप्रणिधानसे भी मन बहुत ही शीघ्र समाधिस्थ हो सकता है।

इससे यह माना जा सकता है कि जप, तप, व्रत, दान, लोक-सेवा, सत्सङ्ग और शास्त्रोंका मनन आदि समस्त साधन इसी ध्यानके लिये ही बतलाये और किये जाते है।

अतएव सच्चे सुखकी प्राप्ति का साक्षात्, सरल और सबसे सुलभ उपाय परमात्माके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही है। इसीको शास्त्रकारोने ध्यान, स्मरण और निदिध्यासन आदि नामोंसे कहा है। कर्मयोग और सांख्ययोग आदि सभी साधनोंमें परमात्मा-का ध्यान प्रधान है।

साधन-कालमें अधिकारी-भेदसे ध्यानके साधनोंमें भी अनेक भेद होते है। सभी मनुष्योंकी रुचि एक प्रकारके साधनमें नही

हुआ करती। एक ही गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग हुआ करते हैं। इसी प्रकार फलरूपमें एक ही परम वस्तुकी प्राप्ति होनेपर भी साधनके प्रकारोंमें अन्तर रहता है। कोई एकत्वभावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके निराकार रूपका ध्यान करते हैं तो कोई स्वामी-सेवक-भावसे सर्वव्यापी परमेश्वरका चिन्तन करते है। कोई भगवान् विश्वरूप तो कोई चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपका, कोई मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपका तो कोई मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूपका और कोई कल्याणमय श्रीशिवरूपका ही ध्यान करते है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥
(गीता ९। १५)

अतएव जिस साधककी परमात्माके जिस रूपमें अधिक प्रीति और श्रद्धा हो वह निरन्तर उसीका चिन्तन किया करे। परिणाम सबका एक ही है, परिणामके सम्बन्धमें किञ्चित् भी सशय रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

साधकोंकी प्रायः दो श्रेणियाँ होती है--एक अभेदरूपसे अर्थात् एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवालोंकी और दूसरी स्वामी-सेवक-भावसे भक्ति करनेवालोंकी। इनमेंसे अभेदरूपसे उपासना करनेवालोंके लिये तो केवल एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर एकत्व-भावसे स्थित रहना ध्यानका सर्वोत्तम साधन है। परन्तु दूसरे, स्वामी-सेवक-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंके लिये शास्त्रोंमें ध्यानके बहुत प्रकार बतलाये गये है।

ध्यान करनेकी पद्धति नही जाननेके कारण ध्यान ठीक नहीं होता, साधक चाहता तो है परमात्माका ध्यान करना, परन्तु उसके ध्यान होता है जगत्का। यह शिकायत प्रायः देखी और सुनी जाती है; इसलिये परमात्मामें मन जोड़नेकी जो विधियाँ है, उन्हें जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने अनेक प्रकारसे ध्यानकी विधियोंके बतलानेकी चेष्टा की है। उनमेंसे कुछका दिग्दर्शन यहाँ संक्षेपमें करवाया जाता है।

यों तो परमात्माका चिन्तन निरन्तर उठते, बैठते, चलते, खाते, पीते, सोते, बोलते और सब तरहके काम करते हुए हर समय ही करना चाहिये; परंतु साधक खास तौरपर जब ध्यानके निमित्तसे बैठे, उस समय तो गौणरूपसे भी उसे अपने अन्तःकरणमें सांसारिक सङ्कल्पोंको नही उठने देना चाहिये तथा एकान्त और शुद्ध देशमें बैठकर ध्यानका साधन आरम्भ कर देना चाहिये।

श्रीगीताजीमें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
(६।११-१२)

'शुद्ध भूमिमे कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपर्युपरि जिसके, ऐसे अपने आसनको न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र

करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको बसमें किये हुए अन्तःक की शुद्धिके लिए योगका अभ्यास करे।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

(गीता ६। १

'काया, शिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण ि हुए दृढ़ होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखकर* अ दिशाओंको न देखता हुआ परमेश्वरका ध्यान करे।'

ध्यान करनेवाले साधकको यह बात विशेषरूपसे ज रखनी चाहिए कि जबतक अपने शरीरका और संसारका ज्ञ रहे तबतक ध्यानके साथ नाम-जपका अभ्यास अवश्य कर रहे। नाम-जपका सहारा नहीं रहनेपर बहुत समयतक ना स्वरूपमें मन नहीं ठहरता। निद्रा, आलस्य और अन्य सांसारिक स्फुरणाएँ विघ्नरूपसे आकर हमको घेर लेती ह नामीको याद दिलानेका प्रधान आधार नाम ही है। नाम नामी रूपको कभी भूलने नहीं देता। नामसे ध्यानमें पूर्ण सहायता मिल है। अतएव ध्यान करते समय जबतक ध्येयमें सम्पूर्णरू तल्लीनता न हो जाय, तबतक नाम-जप कभी नही छोड़ना चाहि यह तो ध्यानके सम्बन्धमें साधारण बातें हुई। अब ध्यानकी कु विधियाँ लिखी जाती है।

---

*इसमे दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखेनेके लिये कहा गया परन्तु जिन लोगोंको आँखें बंद करके ध्यान करने का अभ्यास हो, वे आँखें करके भी कर सकते है, इसमे कोई हानि नही है।

अभेदोपासनाके अनुसार ध्यानकी विधि

एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको चाहिये कि वह उपर्युक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर मनमें रहनेवाले सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्याग करके इस प्रकार भावना करे।

(१) एक आनन्दघन ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नही है, उस ब्रह्मका ज्ञान भी ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नही होता। इसीलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते है, वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, अहकार, द्रष्टा, दृश्य, दशन आदि जो कुछ भी है वह सभी उस ब्रह्मे आरोपित और ब्रह्म-स्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्ण ब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नही है। यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नके सदृश उस परमात्मामें कल्पित है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

(तैत्ति० २।१।१)

'ब्रह्म सत्य, चेतन और अनन्त है' इस श्रुतिके अनुसार वह आनन्दघन, सत्यस्वरूप, बोधस्वरूप परमात्मा है, 'बोध' उससे भिन्न कोई उसका गुण या उसकी कोई उपाधि या शक्तिविशेष नही है। इसी प्रकार 'सत्' भी उससे कोई भिन्न गुण नही है। वह सदासे है और सदा ही रहता है, इसलिये लोक और वेदमें उसे 'सत्' कहते हैं, वास्तवमें तो वह परमात्मा सत् और असत् दोनोसे परे है।

'न सत्तन्नासदुच्यते।'

(गीता १३।१२)

इस प्रकार अन्तःकरणमें ब्रह्मके अचिन्त्यस्वरूपकी दृढ़ भावना करके जपके स्थानमें बारंबार निम्नलिखित प्रकारसे परमात्माके विशेषणोंकी मन-ही-मन भावना और उनका उच्चारण करता रहे। वास्तवमें ब्रह्म नाम-रूपसे परे है, परन्तु उनके आनन्द-स्वरूपकी स्फूर्तिके लिये इन विशेषणोंकी कल्पना है। अतएव साधक चित्तकी समस्त वृत्तियोंको आनन्दरूप ब्रह्ममें तल्लीन करता हुआ 'पूर्ण आनन्द' 'अपार आनन्द' 'शान्त आनन्द' 'घन आनन्द' 'बोधस्वरूप आनन्द' 'ज्ञानस्वरूप आनन्द' 'परम आनन्द' 'नित्य आनन्द' 'सत् आनन्द' 'चेतन आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' 'एक आनन्द-ही-आनन्द' इस प्रकार ब्रह्मके विशेषणोका चिन्तन करता हुआ इस भावनाको उत्तरोत्तर दृढ करता रहे कि एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नही है। इसके साथ ही वह अपने मनको बड़ी तेजीसे उस आनन्दमय ब्रह्ममे तन्मय करता हुआ उन सम्पूर्ण विशेषणोंको उस आनन्दमय परमात्मासे अभिन्न समझता रहे। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त सङ्कल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते है, जब एक बोधस्वरूप आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका सङ्कल्प मनमें नही रहता है तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चलताके साथ होती है। इस प्रकारके ध्यानका नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्क होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस ससारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नही रहती, जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता

है। फिर साधक, साधना और साध्य सभी अभिन्न, सभी एक आनन्दस्वरूप हो जाते हैं। फिर उसकी वह स्थिति सदाके लिये वैसी बनी रहती है। चलते-फिरते, उठते-बैठते तथा अन्य सम्पूर्ण कार्योंके यथाविधि और यथासमय होते हुए भी उसकी स्थितिमें किञ्चित भी अन्तर नही पड़ता। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नही।'

वास्तवमें वह किसी भी समय संसारको या अपनेको ब्रह्मसे अलग नहीं देखता। इसीलिये उसका पुनः कभी जन्म नहीं होता। वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है। गीतामें कहा है—

तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५। १७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी (तथा) तद्रूप है मन जिनका (और) उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।' यही उपर्युक्त ध्यानका फल है।

अभेदोपासनाके ध्यानकी दूसरी युक्ति

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

(कठ० १ । ३ । १३)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह वाणी आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंका मनमें निरोध करे, मनका बुद्धिमें निरोध करे, बुद्धिका महत्तत्त्वमें अर्थात् समष्टि-बुद्धिमें निरोध करे, और उस समष्टि-बुद्धिका निरोध शान्तात्मा परमात्मामें करे ।'

एकान्त स्थानमें बैठकर दसो इन्द्रियोंके विषयोंको उनके द्वारा ग्रहण न करना अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर मनके द्वारा केवल परमात्माके स्वरूपका वारंवार मनन करते रहना ही 'वाणी आदि इन्द्रियोंका मनमें निरोध' करना है । इसके बाद मनके किये हुए परमात्माके स्वरूपके विषयमें जितने भी विकल्प हैं, उन सबको छोड़कर एक निश्चयपर स्थित होकर चित्तका शान्त हो जाना यानी अन्तःकरणमें किसी भी चञ्चलात्मक वृत्तिका किञ्चित् भी अस्तित्व न रहकर एकमात्र विज्ञानका प्रकाशित हो जाना 'मनका बुद्धिमें निरोध' करना है । ध्यानकी इस प्रकारकी स्थितिमें ध्याताको अपना और ध्येय वस्तु परमात्माका बोध रहता है; परन्तु इसके बाद जब उस सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निश्चय करनेवाली बुद्धि-वृत्तिकी स्वतन्त्र सत्ता भी समष्टिज्ञानमे तन्मय हो जाती है, जब ध्याता, ध्यान और ध्येयका समस्त भेद मिटकर केवल एक ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपका ही

बोध रह जाता है; इसी अवस्थाको 'बुद्धिका समष्टि-बुद्धिमें निरोध' करना कहते है।

इसके अनन्तर एक और अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका भिन्न संस्कारमात्र भी शेष नही रहता। केवल एक शुद्ध, बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है, उसके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता किसी प्रकारसे भी नही रहती। इसीका नाम 'समष्टि-बुद्धिका शान्तात्मामें निरोध' करना है।

इसीको निर्वीज समाधि, शुद्धब्रह्मकी प्राप्ति या कैवल्य-पदकी प्राप्ति कहते हैं। यही अन्तिम स्थिति है। वाणी इस अवस्थाका वर्णन नहीं कर सकती, मन इसका मनन नही कर सकता; क्योंकि यह मन, वाणी और बुद्धिके परेका विषय है, यही मोक्ष है।

इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नही रह जाता।

श्रीगीताजीमे कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(३। १७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला और आत्मामे ही तृप्त तथा आत्मामे ही सन्तुष्ट होवे, उसके लिये कोई भी कर्तव्य नही है।'

अभेदोपासनाके अनुसार परमात्माका ध्यान करनेके और भी बहुत से प्रकार हैं; परन्तु लेखका आकार बढ जानेके कारण और नही लिखे जाते हैं। सबका आशय प्रायः एक ही है। एकत्वभावसे

उपासना करनेवालेके लिये श्रीगीताजीके इस श्लोकको निरन्तर स्मरण रखना अत्यन्त लाभप्रद है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

(१३ । १५)

'(वह परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर तथा भीतर परिपूर्ण है, चर-अचररूप भी (वही) है, वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय* है तथा अति समीपमें† और दूरमें†† भी वही स्थित है ।'

अतएव जिनकी अभेदोपासनामें रुचि हो, उन साधकोंको उपर्युक्त प्रकारके साधनमें शीघ्र ही तत्पर होना चाहिये ।

विश्वरूप परमात्माके ध्यानकी विधि

एकान्त स्थानमें आँखें बंद करके बैठनेपर भी यदि इस मायामय ससारकी कल्पना साधकके हृदयसे दूर न हो तो उसे इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये—

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ—इन तीनो लोकोमे जो कुछ भी देखने सुनने और मनन करनेमें आता है सो सब साक्षात् श्रीपरमात्माका

---

*जैसे सूर्यकी किरणोमे स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमे नही आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमे नही आता ।

† वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है ।

†† श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है ।

ही स्वरूप है। सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी मायाशक्तिसे विश्वासरूपमे प्रकट हुए है। जैसे श्रीगीताजीमें कहा है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(१३।१३)

'वह सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओरसे नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोतवाला है; क्योकि वह सब संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'*

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है। मै इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिए।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चाराचारम्॥

(१०।३९)

'हे अर्जुन! जो सब भूतोकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूँ; क्योकि ऐसा वह चर-अचर कोई भी भूत नही है कि जो मुझसे रहित हो, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।'

---

*आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है।

इस प्रकार बारम्बार मनन करके सम्पूर्ण संसारको तत्त्वसे श्रीपरमात्माका स्वरूप समझकर परमात्माके निश्चित रूपमें मनको निश्चल करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनकी चञ्चलताका सहजमें ही नाश हो जाता है। फिर मन जहाँ जाता है वहीं उसे वह परमात्मा दीखता है। एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही भासता। जैसे जलसे बने हुए अनेक प्रकारके बर्फके खिलौनोंको जो तत्त्वसे जलस्वरूप समझ लेता है उसे फिर उनके जल होनेमें किसी प्रकारका भ्रम नही रहता, उसे सभी खिलौने प्रत्यक्ष जलस्वरूप दीखने लगते हैं। इसी तरह उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करनेवाले साधकको भी सम्पूर्ण विश्व परमात्मस्वरूप दीखने लगता है। उसकी भावनामें जगत्‌रूप किसी वस्तुका अस्तित्व ही नही रहता, मन शान्त और संशयरहित हो जाता है। चञ्चल चित्तको परमात्मामे लगानेका यह भी एक सहज उपाय है।

श्रीविष्णुके चतुर्भुज रूपका ध्यान करनेकी विधि

एकान्त स्थानमें पूर्वोक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर आँखे मूंद ले और आनन्दमें मग्न होकर अपने उस परमप्रेमीके मिलनकी तीव्र लालसासे ध्यानका साधन आरम्भ करे।

मन्दिरोमे भगवान्‌की मूर्तिका दर्शनकर, भगवान्‌के चित्रोंका अवलोकनकर, सन्त-महात्माओंके द्वारा सुनकर या सौभाग्यवश स्वप्नमे प्रभुके दर्शनकर भगवान्‌के जैसे साकाररूपको बुद्धि मानती हो, यानी भगवान्‌का साकाररूप साधककी समझमें जैसा आया हो, उसीकी भावना करके ध्यान करना चाहिये। साधारणतः भगवान्‌की मूर्तिके ध्यानकी भावना इस प्रकारकी जा सकती है—

(१) भूमिसे करीब सवा हाथकी ऊँचाईपर आकाशमें अपने सामने ही भगवान् विराजमान है । भगवान्के अतिशय सुन्दर चरणारविन्द नीलमणिके ढेरके समान चमकते हुये अनन्त सूर्योके सदृश प्रकाशित हो रहे है । चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ है और उनपर स्वर्णके रत्नजड़ित नूपुर शोभित हो रहे है । भगवान्के जैसे चरणकमल है वैसे ही उनके जानु और जंघा आदि अंग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके अन्दरसे चमक रहे है । अहा ! अत्यन्त सुन्दर चार लम्बी-लम्बी भुजाएँ शोभा दे रही है । ऊपरकी दोनों भुजाओंमें शंख, चक्र और नीचेकी दोनों भुजाओमें गदा और पद्म विराजमान है । चारों भजाओंमेंकेयूर और कड़े आदि एक-से-एक मुन्दर आभूषण सुशोभित हैं । अहो ! अत्यन्त विशाल और परम सुन्दर भगवानका वक्ष:स्थल है, जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताकाचिह्नअङ्कित हो रहा है । नीलकमलके समान सुन्दर वर्णवाली भगवानकी ग्रीवा अत्यन्त मनोहर है और वह रत्नजटित हार, कौस्तुभमणि, वैजयन्ती तथा अनेक प्रकारके मोतियो की, स्वर्णकी और भाँति-भाँतिके सुन्दर दिव्य गन्ध पुष्पोंकी मालाओसे सुशोभित है । सुन्दर चिवुक (ठुड्डी), लाल-लाल ओष्ठ और मनोहर नुकीली नासिका है, जिसके अग्रभागमे दिव्य मोती लटक रहा है । भगवान्के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके सदृश खिले हुए है । कानोमें रत्न जड़ित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारण तिलक तथा शीशपर मनोहर मणिमुक्ता-मय किरीट (मुकुट) शोभायमान हो रहा है । अहो ! भगवान्-का अतुलनीय मनोहर मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रकी-गोलाई

को लजाता हुआ मनको हरण कर रहा है। मुखमण्डलके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणे देदीप्यमान हैं जिनके प्रकाशसे भगवान्‌के मुकुटादि सम्पूर्ण आभूषणोके रत्न सहस्रगुण अधिक चमक रहे है। अहो! आज मै धन्य हूँ! धन्य हूँ! जो मन्द-मन्द हँसते हुए परमानन्दमूर्ति हरि भगवान्‌का ध्यान कर रहा हूँ।

इस प्रकार भावना करते-करते जब भगवान्‌का स्वरूप भलीभाँति स्थित हो जाय, तब प्रेममें विह्वल होकर साधकको भगवान्‌के उस मनमोहन स्वरूपमें चित्तको स्थिर कर देना चाहिये। ध्यानका अभ्यास करते-करते जव साधकको अपना और संसारका एव ध्यानका भी ज्ञान नहीं रहता, केवल एक मनमोहन भगवान्‌का ही ज्ञान रह जाता है तव साधककी भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि हो जाती है। ऐसा होनेपर साधक तत्काल ही भगवान्‌के वास्तविक तत्त्वको जान जाता है और तब भगवान् उसके प्रेमवश हो साक्षात् साकाररूपमें प्रकट होकर उसे अपने दर्शनसे कृतार्थ करनेको बाध्य होते हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा भी है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज स्वरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इस प्रकार भगवान्के साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद वह भक्त कृतकृत्य हो जाता है। उसके सम्पूर्ण अवगुण नष्ट हो जाते है और वह पूर्ण महात्मा बन जाता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

श्रीगीताजीमें कहा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(८। १५)

'परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दु.खके स्थानरूप क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नही प्राप्त होते।'

दूसरी विधि

(२) अपने हृदयाकाशमें शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए श्रीविष्णु भगवान्का चिन्तन करते-करते निम्नलिखित रूपसे मन-ही-मन उनके स्वरूप और गुणोंकी भावना करते हुए उन्हें बारम्बार नमस्कार करना चाहिये।

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषजीकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका मनोहर नील वर्ण है, अत्यन्त सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते है, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-

मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र भगवान् विष्णुको मैं अवनत-मस्तक होकर प्रणाम करता हूँ ।*

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओं-के समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ो कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वीतलोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जिनमें गम्भीरता है, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं दे सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवलमात्र कल्पना ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे उन अनुपमेय श्रीहरिभगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है ।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णु भगवान् मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं, जिनके समस्त अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई परम शोभा दे रही है, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्‌को

---

* वन्दौं विष्णु विश्वाधार !

लोकपति, सुरपति, रमापति, सुभग-शान्ताकार ।
कमल-लोचन, कलुष-हर, कल्याण-पद-दातार ॥
नील-नीरदवर्ण, नीरज-नाभ, नभ-अनुहार ।
भृगुलता-कौस्तुभ-सुशोभित हृदय मुक्ताहार ॥
शङ्ख-चक्र-गदा-कमलयुत भुज विभूषित चार ।
पीतपट परिधान पावन अग-अग उदार ॥
शेष-शय्या शयित योगी-ध्यान-गम्य, अपार ।
दुःखमय भव-भय-हरण, अशरण-शरण अविकार ॥

(पत्रपुष्प)

मेरा बारम्बार नमस्कार है, इस तरह अभ्यास करते-करते जब चित्त शान्त, निर्मल और प्रसन्न हो जाय तब अपने मनको उस शेषशायी भगवान् नारायणदेवके ध्यानमें अचल कर देना चाहिये ।

परमात्माके साकार और निराकार स्वरूपका ध्यान करनेके और भी बहुत-से साधन है, यहाँ केवल कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है । इस विषयका विशेष ज्ञान तो श्रीपरमात्मा और महात्माओंकी शरण ग्रहणकर साधनमें तत्पर होनेसे ही प्राप्त होता है । साकारके ध्यानमें यहाँ केवल श्रीविष्णु भगवान्के दो प्रकार बतलाये गये है । साधकगण इसी प्रकार अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रीतिके अनुसार श्रीराम, कृष्ण और शिव आदि भगवान्के अन्यान्य स्वरूपोंका भी ध्यान कर सकते हैं । फल सबका एक ही है ।

एकान्त देशसे उठनेके बाद व्यवहारकालमें भी चलते-फिरते, उठते-बैठते सब समय अपने इष्टदेवके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन उसी प्रकार करते रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये । जीवनके अमूल्य समयका एक क्षण भी श्रीभगवान्के स्मरणसे रहित नहीं जाना चाहिये । जीवनमे सदा-सर्वदा जैसा अभ्यास होता है, अन्तमें भी उसीकी स्मृति रहती है और अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही उसकी गति होती है । इसीसे भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८।७)

'इसलिये (हे अर्जुन! तू) सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ (तू) निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म भगवान्‌के ध्यानसे साधकका हृदय पवित्र और निर्मल होता चला जाता है। सम्पूर्ण चिन्ताओंका विनाश होकर अन्तःकरणमें एक विलक्षण शान्तिकी स्थापना होती है। चित्त एकाग्र और अपने अधीन हो जाता है। साधनकी वृद्धिसे ज्यो-ज्यो अन्तःकरणकी निर्मलता और एकाग्रता बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों सच्चे आनन्दकी भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। सच्चे सुखका जब साधकको जरा-सा भी अनुभव मिल जाता है, तब उसे उस सुखके सामने त्रिलोकीके राज्यका सुख भी अत्यन्त तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगता है। इस स्थितिमें साधारण भोगजनित मिथ्या सुखोंकी तो वह बात ही नही पूछता। बल्कि भोगविलास तो उस साधकको नाशवान्, क्षणिक और प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते है। इस प्रकारके साधनसे साधककी वृत्तियाँ बहुत ही शीघ्र संसार-से उपराम होकर भगवान्‌के स्वरूपमें अटल और स्थिर हो जाती है। साधक उस सच्चे और अपार आनन्दको सदाके लिये प्राप्त होकर तृप्त हो जाता है। उसके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है।

प्रिय पाठकगण! हमें इस बातका दृढ विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम कर्त्तव्य सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म

सर्वशक्तिमान् आनन्दकन्द भगवान्का साक्षात् करना ही है। यह इस लोक और परलोकमे सबसे महान्, नित्य और सत्य सुख है। इसको छोड़कर अन्यान्य जितने भी सांसारिक सुख प्रतीत होते हैं वे वास्तवमें सुख नही हैं, केवल मोहसे उनमें सुखकी मिथ्या प्रतीति होती है, वास्तवमें वे सब दुःख ही हैं। योगदर्शनमें कहा है--

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

(२।१५)

'संसारके समस्त विषयजन्य सुख परिणाम, ताप, सस्कार और सांसारिक दु खोंसे मिले हुए होने तथा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंकी वृत्तियोंके परस्पर विरोधी होनेके कारण विवेकी पुरुषोके लिये दुःखमय ही हैं।'

अतएव इन क्षणिक, नाशवान् और कृत्रिम सुखोंको सर्वथा परित्यागकर हमें अत्यन्त शीघ्र तत्पर होकर उस सच्चे सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें उत्साह और दृढ़तापूर्वक लग जाना चाहिये।

घर-घरमें भगवान्‌की पूजा

'श्रीभगवान्‌ने साकाररूपसे साक्षात् प्रकट होकर कभी मुझे दर्शन दिये हैं' इस बात के कहनेमें असमर्थ होनेपर भी मैं बड़े जोरके साथ यह विश्वास दिला सकता हूँ कि यदि कोई भगवत्-परायण होकर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌की भक्ति करे तो उसे साक्षात् दर्शन देनेके लिये भगवान् निश्चय बाध्य है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार साकाररूपसे मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन अनन्य भक्तिसे हो सकता है। अनन्य भक्तिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता

है। यदि सब समय भगवान्‌के नामका जप और हृदयमें उनका स्मरण करते हुए ससारके समस्त व्यवहार उसीके अर्थ किये जायँ तो परमात्मामें अनन्य भक्ति हो जाती है। अनन्य भक्तियुक्त पुरुष स्वयं पवित्र होता है, इसमें तो कहना ही क्या है, परन्तु वह अपने भक्तिके भावोंसे जगत्‌को पवित्र कर सकता है। यदि घरमें एक भी पुरुषको अनन्य भक्तिसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाय तो उसका समस्त कुल पवित्र समझा जाता है। कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्द० माहेश्वर० कौमा० ५५। १४०)

'जिसका चित्त उस अपार विज्ञानानन्दघन समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामे लीन हो गया है उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती होती है।'

भगवान् नारद कहते है—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६८। ६९)

'ऐसे भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं। वे तीर्थोंको सुतीर्थ और कर्मोंको सुकर्म तथा शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बनाते है, उनके भक्तिके आवेशसे वायुमण्डल

शुद्ध होता है, जिससे सम्बन्ध रखनेवाले सब कुछ पवित्र हो जाते हैं और पृथ्वीपर ऐसे पुरुषोके निवाससे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। वे जिस तीर्थमें रहते हैं वही सुतीर्थ, वे जिन कर्मोको करते हैं वे ही सत्कर्म और वे जिन शास्त्रोंका उपदेश करते है वे ही सत्-शास्त्र बन जाते है।'

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति

(नारदभक्तिसूत्र ७१)

ऐसे भक्तोको प्रकट हुए देखकर उनके पितृगण अपने उद्धारकी आशासे आह्लादित होते हैं, देवतागण उनके दर्शन कर नाचने लगते हैं, माता पृथ्वी अपनेको सनाथा समझने लगती है। पद्मपुराणमें भी ऐसा ही वचन है—

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति ॥

पितृ-पितामहगण अपने वंशमें भगवद्भक्त प्रकट हुआ, वह हमारा उद्धारकर देगा ऐसा जानकर प्रसन्न होकर नाचने लगते है। और भी अनेक प्रमाण हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुषका हृदय साक्षात् तीर्थं और उसका घर तीर्थरूप बन जाता है। अतएव सब भाइयोंको चाहिये कि वे परमात्माकी अनन्य भक्तिका साधन करे। इस साधनमें भगवान्‌के प्रति मन लगाना पड़ता है तथा अपना समय भगवत्-सेवामें लगानेका अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये यदि प्रत्येक घरमें एक-एक भगवान्‌की मूर्ति या चित्र रहे—मूर्ति या चित्र वही हो जो अपने मनको रुचता हो और

नित्य नियमपूर्वक उसकी पूजा की जाय तो समय और मन दोनों-को ही परमात्मामें लगानेका अभ्यास अनायास हो सकता है।

भगवान्‌के अनेक मन्दिर हैं, मन्दिरोंमें जाना बड़ा उत्तम है, परन्तु एक तो सभी स्थानोंमें मन्दिर मिलते नहीं। दूसरे सभी जाकर अपनी इच्छाके अनुसार अपने हाथों सेवा-पूजा नहीं कर सकते। तीसरे सब मन्दिरोंकी व्यवस्था आजकल प्रायः ठीक नहीं रही। चौथे घरके सब स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध मन्दिरोंमें नियमित रूपसे जा भी नहीं सकते। परन्तु घरमें किसी धातुकी, पाषाणकी भगवान्‌की कोई मूर्ति या चित्र सभी रख सकते हैं और उसकी पूजा अपने-अपने मतके अनुसार या श्रीप्रेमभक्तिप्रकाशमें बतलायी हुई विधिके अनुसार स्त्री-पुरुष सभी कर सकते है। घरमें नित्य भगवान्‌की पूजा होनेसे उसके लिये पूजाकी सामग्री जुटाने, पुष्पकी माला गूँथने आदिमें बहुत-सा समय एक तरहसे भगवत्-चिन्तनमें लग जाता है। बालकोंको भी इसमें बड़ा आनन्द मिलता है, वे भी इसको सीख जाते है। लड़कपनसे ही उनके हृदयमें भगवत्सम्बन्धी संस्कार जमने लगते हैं। व्यर्थके खेल-कूदकी बात भूलकर उनका चित्त इसी सत्कार्यमें प्रमुदित होने लगता है। छोटी उम्रमें संस्कार आगे चलकर बड़ा काम देते है। भक्तिमती मीराबाई आदिमें इस लड़कपनके मूर्तिपूजाके संस्कारसे ही बड़ी उम्रमें भक्तिका विकास हुआ था। जिन लोगोंने अपने घरोंमें इस कार्यका आरम्भ कर दिया है उनकी भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

अतएव मैं सब भाइयोंसे, वेद, शास्त्र और पुराणादि न मानने-वाले भाइयोंसे भी विनीत-भावसे यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे उचित समझें तो अपने-अपने घरोंमें इस कामको तुरन्त आरम्भ कर दें। भगवान्की पूजाके साथ ही घरके सब पुरुष, स्त्रियाँ और बालक मिलकर भगवान्का नाम ले। भगवानकी पूजा चाहे एक ही व्यक्ति करे पर पूजाका अधिकार सबको हो। स्वामी न हो तो स्त्री पूजा कर ले, स्त्री न कर सके तो पुरुष कर ले। सारांश यह है कि भगवत्-पूजनमें नित्य कुछ समय अवश्य लगता रहे। इससे घरभरमे श्रद्धा-भक्तिका विकास हो सकता है। जो लोग कर सके वे बाह्यपूजाके साथ ही अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार या 'श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश'*के अनुसार भगवान्की मानसिक पूजा भी करे, क्योंकि आन्तरिक पूजाका महत्त्व और भी अधिक है। एक बार मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर इस पूजन-भक्तिका आरम्भ कर इसका फल तो देखे ! इससे अधिक विश्वास दिलाने-का मेरे पास और कोई साधन नही है।

---

* 'श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश' नामक लेख इसीमें अन्यत्र प्रकाशित है, इसकी अलग पुस्तक भी गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती है।

वैराग्य

वैराग्यका महत्त्व

कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वैराग्य साधनकी परम आवश्यकता है। वैराग्य हुए बिना आत्माका उद्धार कभी नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यसे सांसारिक भोग पदार्थोंके प्रति उपरामता उत्पन्न होती है। उपरामतासे परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ध्यान होता है। ध्यानसे परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होता है और ज्ञानसे उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान-सम्पादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करनेमें वैराग्य और उपरामताकी कोई आवश्यकता नही समझते, उनकी मुक्ति वास्तवमे मुक्ति न होकर केवल भ्रम ही होता है। वैराग्य उपरामता-रहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नही, वह केवल वाचिक और शास्त्रीय ज्ञान है, जिसका फल मुक्ति नही, प्रत्युत और भी कठिन बन्धन है। इसीलिए श्रुति कहती है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ॥

(ईश० ९)

'जो अविद्याकी उपासना करते है वे अन्धकारमें प्रवेश करते है और जो विद्यामे रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धकारमें

प्रवेश करते है, ऐसा वाचिक ज्ञानी निर्भय होकर विषय-भोगोमे प्रवृत्त हो जाता है, वह पापको भी पाप नही समझता, इसीसे वह विषयरूपी दलदलमें फँसकर पतित हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरक महँ जाय॥

वास्तवमें ज्ञानके नामपर महान् अज्ञान ग्रहण कर लिया जाता है। अतएव यदि यथार्थ कल्याणकी इच्छा हो तो साधकको सच्चा दृढ़ वैराग्य उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वाँगविशेषका नाम वैराग्य नही है। किसी कारणवश या मूढ़तासे स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिका त्याग कर देना, कपड़े रँग लेना, सिर मुड़वा लेना, जटा बढ़ाना या अन्य बाह्य चिह्नोंका धारण करना वैराग्य नही कहलाता। मनसे विषयोंमें रमण करते रहना और ऊपरसे स्वाँग बना लेना तो मिथ्याचार— दम्भ है। भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३। ६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

सम्प्रति दम्भका वहुत विस्तार हो रहा है, कोई लोगोंको ठगनेके लिये दिखलौआ मौन धारण करता है, कोई आसन लगाकर वैठता

है, कोई विभूति रमाता है, कोई केश बढ़ाता है, कोई धूनी तपता है—'उदरनिमित्त बहुकृतवेषः ।'

इनमेंसे कोई-सा भी वैराग्य नही है । मेरे इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि मैं स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, शिखा-सूत्रादि तथा कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेको बुरा समझता हूँ । न यही समझना चाहिये कि मौन धारण करना, आसन लगाना, विभूति रमाना, केश बढ़ाना या मुड़वाना आदि कार्य अशास्त्रीय और निन्दनीय हैं । न मेरा यही कथन है कि घर-बार त्यागकर इन चिह्नोंके धारण करनेवाले सभी लोग पाखण्डी है । उपर्युक्त कथन किसीकी निन्दा या किसी-पर भी घृणा करनेके लिये नहीं समझना चाहिये । मेरा अभिप्राय यहाँ उन लोगोसे है जो वैराग्यके नामपर पूजा पाने और लोगोंपर अनधिकार रोव जमाकर उन्हें ठगनेके लिये नाना भाँतिके स्वाँग सजते है । जो साधक संयमके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, साधन वढ़नेके लिये ऐसा करते हैं उनकी कोई निन्दा नही है । भगवान्‌ने भी मिथ्याचारी उन्हींको वतलाया है जो बाहरसे संयमका स्वाँग सजकर मन-ही-मन विषयका मनन करते रहते है । जो पुरुष चित्तकी वृत्तियोंको भगवच्चिन्तनमें नियुक्तकर सच्ची वैराग्य-वृत्तिसे वाह्याभ्यन्तर त्याग करते हैं उनकी तो सभी शास्त्रोंने प्रशंसा की है ।

वैराग्य बहुत ही रहस्यका विषय है, इसका वास्तविक तत्त्व विरक्त महानुभाव ही जानते हैं । वैराग्यकी पराकाष्ठा उन्ही पुरुषोंमें पायी जाती है जो जीवन्मुक्त महात्मा है—जिन्होने परमात्मरसमें डूबकर विषयरससे अपनेको सर्वथा मुक्त कर लिया है !

भगवान् कहते है–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।

(गीता २ । ५९)

'इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके केवल विषय निवृत्त हो जाते है, रस (राग) नही निवृत्त होता, परंतु जीवन्मुक्त पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ।'

अब हमें वैराग्यके स्वरूप, उसकी प्राप्तिके उपाय, वैराग्यप्राप्त पुरुषोके लक्षण और फलके विषय में कुछ विचार करना चाहिये । साधनकालमें वैराग्यकी दो श्रेणियाँ है । जिनको गीतामें वैराग्य और दृढ़वैराग्य, योगदर्शनमे वैराग्य और परवैराग्य एव वेदान्तमें वैराग्य और उपरतिके नामसे कहा है । यद्यपि उपर्युक्त तीनोंमें ही परस्पर शब्द और ध्येयमें कुछ-कुछ भेद है; परंतु वहुत अंशमें यह मिलते-जुलते शब्द ही हैं । यहाँ लक्ष्यके लिये ही तीनोंका उल्लेख किया गया है ।

वैराग्य का स्वरूप

योगदर्शनमें यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकारभेदसे वैराग्यकी चार संज्ञाएँ टीकाकारोने वतलायी है, उसकी विस्तृत व्याख्या भी की है । वह व्याख्या सर्वथा युक्तियुक्त और माननीय है । तथापि यहाँ संक्षेपसे अपनी साधारण वुद्धिके अनुसार वैराग्यके कुछ रूप वतलानेकी चेष्टा की जाती है, जिससे सरलतापूर्वक सभी लोग इस विषय को समझ सके ।

भयसे होने वाला वैराग्य—संसारके भोग भोगनेसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी; क्योंकि भोगमें संग्रहकी आवश्यकता है, संग्रहके लिये आरम्भ आवश्यक है, आरम्भमें पाप होता है, पापका फल नरक या दुःख है। इस तरह भोगके साधनोंमें पाप और पापका परिणाम दुःख समझकर उसके भयसे विषयोंसे अलग होना भयसे उत्पन्न वैराग्य है।

विचारसे होनेवाला वैराग्य—जिन पदार्थोंको भोग्य मानकर उनके सङ्गसे आनन्दकी भावना की जाती है, जिनकी प्राप्तिमें सुखकी प्रतीति होती है, वे वास्तवमें न भोग है न सुखके साधन है, न उनमें सुख है। दुःखपूर्ण पदार्थोंमे—दुःखमें ही अविचारसे सुखका कल्पना कर ली गयी है। इसीसे वह सुखरूप भासते हैं, वास्तवमें तो दुःख या दुःखके ही कारण हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता २। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग है, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निस्संदेह दुःखके ही हेतु है और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' अनित्य न प्रतीत हो तो इनको क्षणभङ्गुर समझकर सहन करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २। १४)

'हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके सयोग तो क्षणभङ्गुर और अनित्य है, इसलिये हे भारत ! उनको तू सहनकर ।' अगले श्लोकमें इस सहनशीलताका यह फल भी बतलाया है कि—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

(गीता २ । १५)

'दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोके विषय व्याकुल नही कर सकते; वह मोक्षके लिये योग्य होता है ।' आगे चलकर भगवान्‌ने यह स्पष्ट कह दिया है कि जो पदार्थ विचारसे असत् ठहरता है, वह वास्तवमें है ही नहीं । यही तत्त्वदर्शियोंका निर्णीत सिद्धान्त है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २ । १६)

'हे अर्जुन ! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नही है और सत्‌का अभाव नही है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ।'

इस प्रकारके विवेकद्वारा उत्पन्न वैराग्य 'विचारसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य' है ।

साधनसे होनेवाला वैराग्य—जब मनुष्य साधन करते-करते प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के तत्वका अनुभव करने लगता है

तब उसके मनमें भोगोंके प्रति स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय उसे संसारके समस्त भोग्य-पदार्थ प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। सब विषय भगवत्प्राप्तिमें स्पष्ट बाधक दीखते हैं।

'जो स्त्री-पुत्रादि अज्ञानीकी दृष्टिसे रमणीय, सुखप्रद प्रतीत होते है, वही उसकी दृष्टिमें घृणित और दुःखप्रद प्रतीत होने लगते हैं।* धन-मकान, रूप-यौवन, गाड़ी-मोटर, पद-गौरव, ज्ञान-शौकीनी, विलासिता-सजावट आदि सभीमे उसकी विषवत् बुद्धि हो जाती है और उसका सङ्ग उसे साक्षात् कारागारसे भी अधिक बन्धनकारक, दुःखमयी तथा घृणास्पद बोध होने लगता है। मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान आदिसे वह इतना डरता है जितना साधारण मनुष्य सिह-व्याघ्र, भूत-प्रेत और यमराजसे डरता है। जहाँ उसे सत्कार, पूजा या सम्मान मिलनेकी किञ्चित् भी सम्भावना होती है, वहाँ जानेमें उसे बड़ा भय मालूम होता है। अतः ऐसे स्थानोंको वह दूरसे ही त्याग देता है। जिन प्रशंसा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मानकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्य फूले नही समाते, उन्हीमें उसको लज्जा, सङ्कोच और दुःख होता है, वह उनमें अपना अधःपतन समझता है। हमलोग जिस प्रकार अपवित्र और घृणित पदार्थोंको देखनेमें हिचकते है। उसी प्रकार वह मान-बड़ाईसे घृणा करता है। किसीको भी प्रसन्न करने या किसीके भी दबावसे वह मान-बड़ाई स्वीकार नही करता। उसे वे प्रत्यक्ष नरकतुल्य

---

* इसमे कोई यह न समझे कि स्त्री-पुत्रादिसे व्यवहारमे घृणा करनी चाहिए। गृहस्थ साधकको सबसे यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करते हुए मनमे वैराग्यकी भावना रखनी चाहिये।

प्रतीत होते हैं। जो लोग उसे मान-बड़ाई देते हैं, उनके संबन्धमें वह यही समझता है कि यह मेरे भोले भाई मेरी हित-कामनासे विपरीत आचरण कर रहे हैं। 'भोले साजन शत्रु बराबर' वाली उक्ति चरितार्थ करते है। इसलिए वह उनकी क्षणिक प्रसन्नताके लिए उनका आग्रह भी स्वीकार नही करता। वह जानता है कि इसमें इनका तो कोई लाभ नहीं है और मेरा अधःपतन है। पक्षान्तरमें स्वीकार करनेमें न दोष है, न हिंसा है और इस कार्यके लिये इन लोगोके इस आग्रहसे बाध्य होना धर्मसम्मत भी नही है। धर्म तो उसे कहते हैं जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी हो। जो लोक-परलोक दोनोंमे अहितकर है वह कल्याण नही, अकल्याण ही है। पुरस्कार नही, महान् विपद् ही है। माता-पिता मोहवश बालकके क्षणिक सुखके लिए उसे कुपथ्य सेवन कराकर अन्तमें बालकके साथ ही स्वयं भी दुखी होते हैं। इसी प्रकार यह भोले भाई भी तत्त्व न समझनेके कारण मुझे इस पाप-पथ में ढकेलना चाहते हैं। समझदार बालक माता-पिताके दुराग्रहको नही मानता तो वह दोषी नहीं होता। परिणाम देखकर या विचारकर माता-पिता भी नाराज नही होते। इस प्रकार विचार करनेपर ये भाई भी नाराज नहीं होगे। यों समझकर वह किसीके द्वारा भी प्रदान की हुई मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। वह समझता है कि इसके स्वीकारसे मैं अनाथकी भाँति मारा जाऊँगा। इतना त्याग मुझमें नहीं है कि दूसरोंकी जरा-सी खुशीके लिये मैं अपना सर्वनाश कर डालूँ। त्याग-बुद्धि हो, तो भी विवेक ऐसे त्यागको बुद्धिमानी या उत्तम नहीं बतलाता, जो सरल-चित्त भाई अज्ञानसे साधकोंको इस प्रकार मान-

बड़ाई स्वीकार करनेके लिये बाध्य कर उन्हें महान् अन्धकार और दु:खके गड्ढेमें ढकेलते हैं, परमात्मा उन्हें सद्‌बुद्धि प्रदान करें, जिससे वे साधकोंको इस तरह विपत्तिके भँवरमें न डालें।

साधनद्वारा इस प्रकारकी विवेकयुक्त भावनाओंसे भोगोंके प्रति जो वैराग्य होता है, वह साधनद्वारा होनेवाला वैराग्य है। इस तरहके वैरागी पुरुषको स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, ऐश्वर्य आदि उसी प्रकार कान्तिहीन और नीरस प्रतीत होते हैं, जैसे प्रकाशमय सूर्यदेवके उदय होनेपर चन्द्रमा प्रतीत हुआ करता है।

परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे होनेवाला वैराग्य—जब साधकको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है तब तो संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसे स्वत: ही सारहीन और मायामात्र प्रतीत होने लगते है। फिर उसे भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीमें कुछ भी सार नहीं प्रतीत होता। जैसे मृगतृष्णाके जलको मरीचिका जान लेनेपर उसमें जल नहीं दिखायी देता, जैसे नींदसे जागनेपर स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर स्वप्नके संसारका चिन्तन करनेपर भी उसमें सत्ता नही मालूम होती उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषको जगत्‌के पदार्थोंमें सार और सत्ताकी प्रतीति नहीं होती। जैसे चतुर बाजीगरद्वारा निर्मित रम्य बगीचेमें अन्य सब मोहित होते हैं; परन्तु उसका तत्त्व जाननेवाला झमूरा उसे मायामय और निस्सार समझकर मोहित नही होता, (हाँ, अपने मायापति मालिककी लीला देख-देखकर आह्लादित अवश्य होता है) इसी प्रकार इस श्रेणीका वैरागी पुरुष विषय-भोगोंमे मोहित नहीं होता।

इस प्रकारके वैराग्यवान् पुरुषकी संसारके किसी भोग-पदार्थमें आस्था ही नहीं होती, तब उसमें रमणीयता और सुखकी भ्रान्ति तो हो ही कैसे सकती है ? ऐसा ही पुरुष परमात्माके परमपदका अधिकारी होता है। इसीको परवैराग्य या दृढ़ वैराग्य कहते हैं।

वैराग्य-प्राप्तिके उपाय

उपर्युक्त विवेचनपर विचारकर आरम्भमें साधकोंको चाहिए कि ये संसारके विषयोंको परिणाममें हानि करनेवाले मानकर भयसे या दुःखस्वरूप समझकर घृणासे ही उनका त्याग करें। बारंवार वैराग्यकी भावनासे त्यागके महत्त्वका मनन करनेसे, जगत्की यथार्थ स्थिति पर विचार करनेसे, मृत पुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों और खँडहरोंको देखने-सुननेसे, प्राचीन नरपतियोंकी अन्तिम गतिपर ध्यान देनेसे और विरक्त विचारशील पुरुषोंका सङ्ग करनेसे ऐसी दलीलें हृदयमें स्वयमेव उठने लगती हैं, जिनसे विषयोंके प्रति विराग उत्पन्न होता है। पुत्र-परिवार, धन-मकान, मान-बड़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त पदार्थोंमें निरन्तर दुःख और दोष देख-देखकर उनसे मन हटाना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

(गीता १३। ८-९)

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोमे आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग

आदिमें दुःख-दोषोंका वारंवार विचार करना तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्ति और ममताका अभाव करना चाहिये ।

विचार करनेपर ऐसी और भी अनेक दलीलें मिलेंगी जिनसे संसारके समस्त पदार्थ दुःखरूप प्रतीत होने लगेंगे ।

योगदर्शनका सूत्र है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

(साधनपाद १५)

परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख तथा दुःखोंसे मिश्रित होने और गुण-वृत्ति-विरोध होनेसे भी विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें समस्त विषयसुख दुःखरूप ही हैं । अव यहाँ इसका कुछ खुलासा कर दिया जाता है—

परिणामदुःखता—जो सुख आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखरूप हो वह सुख परिणामदुःखता कहलाता है । जैसे रोगीके लिये आरम्भमे जीभको स्वाद लगनेवाला कुपथ्य । वैद्यके मना करनेपर भी इन्द्रियासक्त रोगी आपात सुखकर पदार्थको स्वादवश खाकर अन्तमे दुःख उठाता, रोता, चिल्लाता है, इसी प्रकार विषयसुख आरम्भमें रमणीय और सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममे महान् दुःखकर हैं । भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

(गीता १८ । ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमे अमृत के सदृश भासता है, परतु परिणाममें वह (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे) विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

दादकी खाज खुजलाते समय बहुत ही सुखद मालूम होती है; परन्तु परिणाममें जलन होनेपर वही महान् दुःखद हो जाती है। यही विषय-सुखोंका परिणाम है। इस लोक और परलोकके सभी विषय-सुख परिणामदुःखताको लिये हुए हैं। बड़े पुण्यसञ्चयसे लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है; परन्तु 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' (गीता ९। २१) वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते है। इसलिये गोसाइंजी महाराजने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

तापदुःखता—पुत्र, स्त्री, स्वामी, धन, मकान आदि सभी पदार्थ हर समय ताप देते—जलाते रहते हैं। कोई विषय ऐसा नही है जो विचार करनेपर जलानेवाला प्रतीत न हो। इसके सिवा जब मनुष्य अपनेसे दूसरोको किसी भी विषयमें अधिक बढ़ा हुआ देखता है तब अपने अल्प सुखके कारण उसके हृदयमे बड़ी जलन होती है। विषयोकी प्राप्ति, उनके संरक्षण और नाशमें भी सदा जलन बनी ही रहती है। कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। १७)

धन कमानेमें कई तरहके सन्ताप, उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें सन्ताप, कहीं किसीमें डूब न जाय, इस चिन्तालयमें सदा ही जलना पड़ता है, नाश हो जाय तो जलन, खर्च हो जाय तो जलन, छोड़कर मरनेमे जलन, मतलव यह कि आदिसे अन्ततक केवल सन्ताप ही रहता है। इसलिये इसको धिक्कार दिया गया। यही हाल पुत्र, मान, बड़ाई आदिका है। सभीमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक सन्ताप बना रहता है। ऐसा कोई विषयसुख नहीं जो सन्ताप देनेवाला न हो।

सस्कारदु:खता—आज स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त है उनके संस्कार हृदयमे अङ्कित हो चुके हैं, इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारोंके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दु:खदायी होता है। मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर, सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे पतिसे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्‌भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे। परन्तु आज मैं क्या-से-क्या हो गया। मै सब तरहसे दीन-हीन हो गया, यद्यपि उसीके समान जगत्‌में लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोसे रहित है परन्तु वे ऐसे दुखी नही हैं। जिसके विषय-भोगोकी बाहुल्यताके समय सुखोके संस्कार होते है उसे ही उनके अभावकी प्रतीति होती है। अभावकी प्रतीतिमें दु:ख भरा हुआ है, यही संस्कारदु:खता है।

इसके सिवा यह बात भी सर्वथा ध्यानमे रखनी चाहिये कि संसारके सभी विषय-सुख सभी अवस्थामें दु:खसे मिश्रित है।

गुण-वृत्तियोंके विरोधजन्य दुःख—एक मनुष्यका कुछ झूठ बोलने या छल-कपट, विश्वासघात करनेसे दस हजार रुपये मिलनेकी सम्भावना प्रतीत होती है। उस समय उसकी सात्त्विक वृत्ति कहती है—'पाप करके रुपये नहीं चाहिये, भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परन्तु पाप करना उचित नही।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है 'क्या हर्ज है ? एक बार तनिक-सी झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है ? जरा-से छल-कपट या विश्वासघातसे क्या होगा ? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दारिद्रय मिटा ले, भविष्यमें ऐसा नही करेगे।

यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमे महान् युद्ध मच जाता है, इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है। विषाद और उद्विग्नताका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी, तामसी वृत्तियोंका झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरंज या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर न पहुँचनेसे घरका आवश्यक काम बिगड़ता है। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो, चलो हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खीचती है, वह वेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुखी हो जाता है।

उदाहरणके लिये दो दृष्टान्त ही पर्याप्त है।

इस प्रकार विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि संसारके सभी सुख दुःखरूप हैं। अतएव इनसे मन हटानेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त भयसे और विचारसे होनेवाले दोनों प्रकारके वैराग्योंको प्राप्त करनेके यही उपाय हैं, यह उपाय पूर्वापेक्षा उत्तम श्रेणीके वैराग्य-सम्पादनमें भी अवश्य ही सहायक होते हैं। परन्तु अगले दोनों वैराग्योंकी प्राप्तिमे निम्नलिखित साधन विशेष सहायक होते हैं।

परमात्माके नाम-जप और उनके स्वरूपका निरन्तर स्मरण करते रहनेसे हृदयका मल ज्यों-ज्यों दूर होता है, त्यों-त्यों उसमें उज्ज्वलता आती है। ऐसे उज्ज्वल और शुद्ध अन्तःकरणमें वैराग्यकी लहरे उठती हैं, जिनसे विषयानुराग मनसे स्वयमेव ही हट जाता है। इस अवस्थामें विशेष विचारकी आवश्यकता नही रहती। जैसे मैले दर्पणको रुईसे घिसने पर ज्यों-ज्यों उसका मैल दूर होता है त्यो-ही-त्यों वह चमकने लगता है और उसमें मुखका प्रतिविम्ब स्पष्ट दिखलायी पड़ता है, इसी प्रकार परमात्माके भजन-ध्यानरूपी रुईकी चालू रगड़से अन्तःकरणरूपी दर्पणका मल दूर होनेपर वह चमकने लगता है और उसमें मुखस्वरूप आत्माका प्रतिविम्ब दीखने लगता है। ऐसी स्थितिमें जरा-सा भी वाकी रहा हुआ विषय-मलका दाग साधकके हृदयमें शूल-सा खटकता है। अतएव वह उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उस दागको मिटानेके लिए भजन-ध्यानमें तत्पर होकर अन्तमें उसे सर्वथा मिटाकर ही छोड़ता है। ज्यों-ज्यों भजन-ध्यानसे अन्तःकरणरूपी दर्पणकी सफाई होती है, त्यों-त्यों साधककी आशा और उसका उत्साह वढ़ता रहता है, भजन-ध्यानरूपी साधन-तत्त्व न

समझनेवाले मनुष्योंको ही भाररूप प्रतीत होताहै। जिसको इसके तत्वका ज्ञान होने लगता है वह तो उत्तरोत्तर आनन्दकी उपलब्धि करता हुआ पूर्णानन्दकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान बढ़ाता ही रहता है। उसकी दृष्टिमें विषयोंमें दीखनेवाले विषय-सुखकी कोई सत्ता ही नही रह जाती। इससे उसे दृढ़ वैराग्यकी बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने इस दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा ही अहंता, ममता और वासनारूप अतिदृढ मूलवाले संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको काटनेके लिये कहा है।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

(गीता १५। ३)

संसारके चित्रको सर्वथा भुला देना ही इस अश्वत्थ- वृक्षका छेदन करना है। दृढ़ वैराग्यसे यह काम सहज ही हो सकता है। भगवान् कहते है।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

(गीता १५। ४)

इसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये, (उस परमात्माके विज्ञान आनन्दघन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का बारंबार चिन्तन करना ही उसे ढूँढना है) जिसमें गये हुए पुरुष फिर वापस संसारमें नही आते और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूं (उस परमपदके

स्वरूपको पकड़ लेना—उसमें स्थिर हो जाना ही उसकी शरण होना है) इस प्रकार शरण होनेपर—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत् ॥
(गीता १५ । ५)

'नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दु.ख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।

वैराग्यका फल

वस, इस प्रकार एक परमात्माका ज्ञान रह जाना ही अटल समाधि या जीवन्मुक्त-अवस्था है, उसीके यह लक्षण है । तदनन्तर ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भगवान्‌के भक्त संसारमें किस प्रकार विचरते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है; इसका विवेचन गीताके अध्याय १२ के श्लोक १३ से १९ तक निम्नलिखित रूपमें है, भगवान् उसके लक्षण वतलाते हुए कहते है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

'इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमे सम और क्षमावान् है अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है। जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ-हानिमें संतुष्ट है, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको बशमें किये हुए मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमे अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नही होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नही होता एव जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मुझे प्रिय है। जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतर शुद्ध, चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं

पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता हैं तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है। जो पुरुष शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी और सुख-दु.खादि द्वन्द्वोंमें सम है और सव ससारमे आसक्ति से रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एव जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट और रहनेके स्थानमे ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

अतएव इस असार संसारसे मन हटाकर इस लोक और परलोककी समस्त भोगोंमे वैराग्यवान् होकर सवको परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

गीतासम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनके प्रश्न हैं—

प्रश्न—गीता वेदोंको मानती है कि नही ? यदि मानती है तो किस दृष्टिसे ? अध्याय २ श्लोक ४२, ४५, ४६, ५३ में वेदोंको क्यो नीची दृष्टिसे कथन किया है ?

उत्तर—गीता वेदोंको मानती है और उनको बहुत ऊँची दृष्टिसे देखती है। दूसरे अध्यायके इन श्लोकोंमें वेदोंका निन्दा नहीं की गयी है, केवल भोग-ऐश्वर्य या स्वर्गादिरूप क्षणभङ्गुर और विनाशी फल देनेवाले सकाम कर्मोंसे अलग रहकर आत्मपरायण होनेके लिये कहा गया है। भोगोमे मनुष्यकी स्वाभाविक ही प्रवृत्ति रहती है। इसपर यदि 'अमुक कर्मसे बहुत धन मिलेगा।' 'अमुक कर्मसे मनचाहे स्त्री-पुत्रादि मिलेगे।' 'अमुकसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी।' आदि सुहावने वचन सुननेको मिल जायँ तब तो मनका अपहरण हो जाना अनिवार्य हो जाता है। भोग लालसा बढ़कर बुद्धिको डावाँडोल कर देती है। बहुशाखावाली बुद्धिसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नही होती और उसके हुए बिना दुःखोसे सदाके लिये छुटकारा नहीं मिलता। इसीसे आगे चलकर नवे अध्यायमे फिर कहा गया है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।।
ते तंभुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ।।
(२०, २१)

'तीनों वेदोमें विधान किये हुये सकाम कर्मोको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापोंसे पवित्र हुए जो पुरुष मुझे यज्ञोंद्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते है, वे अपने पुण्योंके फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते है, इस प्रकार (स्वर्गके साधनरूप) तीनों (ऋक्, यजु, साम) वेदोंमे कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगकामनावाले पुरुष वारम्वार आवागमनको प्राप्त होते हैं ।'

तात्पर्य यह है कि सकाम कर्ममें लगे हुए पुरुषोंको वारंबार संसारमें आना-जाना पड़ता है, उन्हें जन्मरूप कर्मफल ही मिलता है । जन्म-मृत्युके चक्रसे उनका पिण्ड नही छूटता । इस विवेचनसे यह वतलाना कि यहाँ वास्तवमे वेदकी निन्दा नही है । सकाम कर्म, परम श्रेयकी प्राप्ति नही करानेवाले होनेके कारण उन्हें निष्काम कर्म और निष्कामकी उपासनाकी अपेक्षा नीची श्रेणीका वतलाया है । उनको बुरा नही वताया, यह कही नही कहा कि वैदिक सकामकर्मी पुरुप 'मोहजालसमावृता.' आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुपोंकी तरह 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' अपवित्र नरकमें पड़ते हैं या 'आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमा गतिम् ।।' [१६ । २०] हे कौन्तेय ! वे मूढ पुरुष

जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मुझे न पाकर उसमें भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते है। बल्कि यह कहा है कि वे पूत-पाप (देव-ऋणरूप पापोंसे मुक्त होकर) स्वर्गकी इच्छासे यज्ञद्वारा भगवत्-पूजा करनेवाले होनेके कारण स्वर्गके दिव्य और विशाल भोगोंको भोगते हैं।

पक्षान्तरमें वेदका महत्त्व प्रकट करनेवाले अनेक वचन गीतामें मिलते हैं—'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' [३ । १५] 'कर्मको वेदसे और वेदको अक्षर परमात्मासे उत्पन्न हुआ ज्ञान।' ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत.। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥' [१७ । २३] 'ॐ, तत् सत्-ये ब्रह्मके त्रिविध नाम कहे है। सृष्टिके आदिमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि उसीसे ही रचे गये हैं।' इन वचनोंसे वेदकी उत्पत्ति परमात्मासे हुई बतलायी गयी है। 'एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेव ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥' [४ । ३२] 'ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं, उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियोंकी क्रियाद्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जान। इस प्रकार तत्त्वसे जानकर निष्काम कर्मयोगद्वारा संसार बन्धनसे मुक्त हो जायगा।' यहाँ वैदिक कर्मोका तत्त्व समझकर उनके निष्काम आचरणसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है। 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति।' [८ । ११] 'वेदको जाननेवाले जिस परमात्माको अक्षर (ओकार नामसे) कहते है। इसमें वेदकी प्रशंसा स्पष्ट है। ठीक यही वाक्य कठोपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रमे है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(१।२।१५)

'... पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च' पवित्र ओंकार और 'ऋक्, साम तथा यजुर्वेद मैं ही हूँ।' [९। १७] इन वचनोंसे गीताकार भगवान्‌ने वेदको अपना स्वरूप माना है। 'छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।' [१३। ४] 'विविध वेदमन्त्रोंसे (क्षेत्रक्षेत्रज्ञका तत्त्व) विभागपूर्वक' कहकर अपने वचनोंकी पुष्टिमें वेदका प्रमाण दिया है वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।' [१५। १५] 'समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ और वेदान्तका कर्ता तथा वेदवित् भी मैं ही हूँ। इन वचनोंसे भगवान्‌ने अपने को वेदसे वेद्य और वेदका ज्ञाता बतलाकर वेदकी महान् प्रतिष्ठा स्पष्ट स्वीकार की है। इसके सिवा और कोई स्थल ऐसे हैं जहाँ वेदोंकी प्रशंसा की गयी है।

इससे यह पता लग जाता है कि गीता वेदको नीचा नहीं मानती। गीताने केवल सकाम कर्मको ही निष्कामकी अपेक्षा नीचा बतलाया है। वास्तवमें इस लोक और परलोकके भोगपदार्थ तो मोक्षसे सदा ही नीचे हैं। स्वयं वेद भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें इसका विवेचन है। कठोपनिषद्‌के यम-नचिकेता-संवादमें प्रेय-श्रेयका विवेचन करते हुए यमराजने भोग-ऐश्वर्यादि प्रेमकी निन्दा और मोक्ष-श्रेयकी बड़ी प्रशंसा की है एवं भोग-ऐश्वर्यमें अनासक्त होनेके कारण नचिकेताकी बहुत बड़ाई की है। (कठ० व० २। १, २, ३) इसी प्रकारकी बात

गीतामें है। निष्काम कर्म,निष्काम उपासना और आत्मतत्त्वकी जगह-जगह प्रशंसा करके गीताने प्रकारान्तरसे वेदका ही समर्थन किया है।

प्र०—गीता वर्णाश्रम-धर्मको मानती है या नहीं ? यदि मानती है तो किस प्रकारसे ? यदि नहीं मानती है तो वर्णाश्रम-धर्मको क्यों चाहती है ? अगर मानती है तो १८वे अध्यायके ६६वे श्लोकमें कथित 'सब धर्म छोड़कर' का क्या अर्थ है ?

उ०—गीता वर्णाश्रमको मानती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्ण अपने-अपने स्वाभाविक वर्ण-धर्मका स्वार्थ-रहित निष्काम भावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ आचरण करें तो उनकी मुक्ति होना गीताको सर्वथा मान्य है। गीता अध्याय १८ श्लोक ४१ से ४४ तक चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्म बतलाकर ४५-४६ में उन्हीं स्वाभाविक कर्मोंसे उनके लिये परम सिद्धिकी प्राप्ति होना बतलाया है और ४७-४८ में वर्ण-धर्मके पालनपर विशेष जोर दिया है।

'गीता जन्म-कर्म दोनोंसे वर्ण मानती है। 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' [४। १३] 'गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मेरेद्वारा रचे गये है।' इन वचनोंसे उनका पूर्व-कृत कर्मोंके फलस्वरूप गुण-कर्मके अनुसार रचा जाना सिद्ध होता है, न कि पीछेसे मानना। इसीलिये गीता वर्णधर्मको 'स्वभावज' और 'सहज' (जन्मके साथ ही उत्पन्न होनेवाल) कर्म कहती है। परमेश्वरकी शरण होकर कोई भी अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा निष्कामभावसे उसकी उपासना करके मुक्त हो सकता है। वर्णोंके अनुसार कर्मोंमें भेद मानती हुई भी मुक्तिके सम्बन्धमें गीता सबका सामान्य अधिकार बतलाती है। गीताकी घोषणा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८।४६)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियोवैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुख लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(९।३२-३३)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।' हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवे वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्तहोते हैंफिर पुण्यशील ब्राह्मणऔर राजर्षि भक्तोका तो कहना ही क्या है ? अतएव तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

गीता अध्याय १८। ६६ मे 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' का अर्थ सम्पूर्ण धर्मोका स्वरूपसे त्याग नही है; क्योंकि पहले अध्याय १६। २३-२४ में शास्त्रविधिके त्यागसे सिद्धि, सुख और परमगतिका न होना वतलाकर शास्त्रविधिसे नियत किये हुए धर्मका पालन करना कर्तव्य वतलाया है। अध्याय १८। ४७-४८ में भी स्वधर्म पालनपर वडा जोर दिया है। वहाँ ऐसा प्रतिपादन करके यहाँ सब धर्मोका स्वरूप से त्याग करनेकी आज्ञा देना सम्भव नहीं। यदि थोड़ी देरके लिये मान भी ले कि अपने वचनों-

के विरुद्ध यहाँ भगवान्‌ने स्वरूपसे धर्म छोड़नेकी आज्ञा ही दी है तो फिर अध्याय १८। ७३ में 'करिष्ये वचनं तव' 'आपके आज्ञानुसार करूँगा।' कहकर अर्जुनका युद्धरूप वर्णधर्मका आचरण करना उससे विरुद्ध पड़ता है। भगवान्‌ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा दी। अर्जुनने उसे स्वीकार भी कर लिया, फिर उसके विरुद्ध अर्जुन युद्ध क्यों करता ? इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा नहीं दी। यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' से उनका यही मतलब है कि मनुष्योंको सब धर्मोंका 'आश्रय' छोड़कर केवल एक परमात्माका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। धर्मको स्वरूपसे त्यागनेकी बात नहीं है। बात है केवल आश्रय (शरण) के त्यागकी। यह तो वर्ण-धर्मकी बात हुई। वर्णकी भाँति आश्रय-धर्मका गीतामें स्पष्ट और विस्तृत वर्णन नही है। गौणरूपसे आश्रय- धर्मको गीताने स्वीकार किया है 'ब्रह्मचर्यं चरन्ति' 'यतयो वीतरागा.' [८ । ११] 'तपस्विभ्य·' [६ । ४६] 'ब्रह्मचर्यंका आचरण करते हैं।' 'आसक्तिरहित संन्यासी' 'तपस्वियोंसे' आदि शब्दोंसे ब्रह्मचर्य, संन्यास और वानप्रस्थका निर्देश किया गया गया है। गृहस्थका वर्णन तो स्पष्ट ही है।

प्र०—गीता कर्मको मानती है या ज्ञानको या दोनोंको ? यदि केवल कर्मको मानती है तो ज्ञान निष्फल है, यदि ज्ञानको मानतीहै तो कर्म निष्फल है, यदि ज्ञानको बताती है तो कर्मको क्यों चाहती है ?

उ०—गीता अधिकारी-भेदसे ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनो निष्ठाओको मुक्तिके दो स्वतन्त्र साधन मानती है। दोनो ही निष्ठाओंका फल एक भगवत्प्राप्ति होनेपर भी दोनोंके साधकोंकी कार्यपद्धति

उनके भाव और पथ सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं। दोनों निष्ठाओंका साधन एक ही कालमें एक पुरुषद्वारा नहीं वन सकता।

निष्काम कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही समस्त कर्म करता है और ज्ञानयोगी मायाके गुण ही गुणोंमे वर्तते हैं यों समझकर देहेन्द्रियोसे होनेवाली समस्त क्रियाओमें कर्तृत्वाहङ्कार न रखकर केवल सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें ऐक्यभावसे स्थित रहता है।

दोनोमेसे किसी भी निष्ठाके अनुसार स्वरूपसे कर्म त्याग करनेकी आवश्यकता नही है। उपासनाकी आवश्यकता दोनोंमें है। इस विषयका विस्तृत विवेचन 'गीतोक्त सन्यास' और 'गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप' शीर्षक लेखोंमे किया गया है*।

प्र०—गीतामूर्तिपूजाको मानती है कि नही ? यदि नही मानती है तो अध्याय ९ के २३वे श्लोकका क्या अर्थ है ? यदि मानती है तो निराकार या साकार ?

उ०—गीता मूर्तिपूजाको मानती है, अध्याय ९। २६ और ९ ३४ के श्लोकसे यह प्रमाणित है। अब रही स्वरूपकी बात, सो गीताको भगवान्के साकार-निराकार दोनों ही स्वरूप मान्य है। उदाहरणार्थ कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते है—

---

* 'गीतोक्त साङ्ख्ययोग' और 'निष्काम कर्मयोग' लेख इसीमे अन्यत्र प्रकाशित हैं और वह पुस्तकाकार भी छप गये हैं, गीताप्रेससे पुस्तक मिल सकती है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(४ । ६—९)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(९ । ११, २६, ३४)

भगवान् कहते है—'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म-स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। हे अर्जुन! मेरा वह

जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है—इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नही प्राप्त होता है; किंत मुझे ही प्राप्त होता है।'

'सम्पूर्ण भूतोके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावोंको न जाननेवाले मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको साधारण मनुष्य मानते हैं। पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं (सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित) खाता हूँ। (तू) मुझमें ही मनवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा करनेवाला हो, मुझ वासुदेवको ही प्रणामकर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मुझमे एकीभावकरके मुझकोही प्राप्त होगा।'

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

(१०।१२-१३; ११।१७, ४६)

अर्जुन कहते हैं—

'आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र है; क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष, देवोके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं; वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवलऋषि, महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते है।' आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब तरफसे प्रकाशमान तेजका पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, देखनेमे अति गहन और अप्रमेयस्वरूप सब ओरसे देखता हूँ।' 'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथोंमें लिये हुए देखना चाहता हूँ। अतएव हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस चतुर्भुज रूपसे युक्त होइये अर्थात् चतुर्भुजरूप दिखलाइये।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

(१२।२)

भगवान् कहते हैं—'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं वे मुझको योगियोंमे भी अति उत्तम योगी मान्य है अर्थात् मै उन्हे अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते है—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

(१८।७७)

'हे राजन् ! श्रीहरिके उस अति अद्भुत रूपको पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और बारंबार हर्षित होता हूँ ।'

उपर्युक्त श्लोक साकार स्वरूपके प्रतिपादक है । नीचे निराकारके प्रतिपादक श्लोक हैं—

सर्वभूतस्थित यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(६ । ३१)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(७ । १९)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
य प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(८ । २१)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

(९ । ४-५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२ । ३-४)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
(१३ । १५, २७, ३०)

भगवान् कहते हैं—

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमे आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है। क्योकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नही। (जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझको भजता है,वह महात्मा अति दुर्लभ है।(जो)अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परमगति कहते है तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नही आते है वह मेरा परमधाम है। मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फके सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार स्थित हैं (इसलिये वास्तवमे)

मैं उनमे स्थित नही हूँ और (वे) सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। (किन्तु) मेरी योगमाया और प्रभावको देख (कि) भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा (वास्तवमें) भूतोमें स्थित नही है। जो पुरुष इन्द्रिय-समुदायको अच्छी प्रकार वशमे करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय-स्वरूप सदा एकरस रहनेवाले, नित्य अचल, निराकार अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासते है वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। (परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी (वही) है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और अति दूरमें भी वही स्थित है। जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमे नाशरहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है वही देखता है। जिस कालमें भूतोंके न्यारे-न्यारे भावको एक परमात्माके सङ्कल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके सङ्कल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस कालमे (वह) सच्चिदा-नन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

प्र०—गीतामे लिखा है कि विना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नही देना चाहिये तो क्या अर्जुन शिष्य थे? क्या अर्जुनका उपदेश देनेसे ज्ञान हुआ? क्या वे परमपदको प्राप्त हुए?

उ०—गीतामें ऐसा कही नही कहा गया कि विना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नहीं करना चाहिये। तथापि अर्जुन तो

अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानता भी था 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।' (२ । ७) 'आपका शिष्य हूँ, आपके शरण हूँ मुझे शिक्षा दीजिये' कहकर अर्जुनने शिष्यत्व स्वीकार किया है और भगवान्‌ने इसका विरोध न कर तथा जगह-जगह अर्जुनको अपना इष्ट, प्रिय और भक्त मानकर प्रकारान्तरसे उसका शिष्य होना स्वीकार किया है । अर्जुनको परमपदकी प्राप्ति हुई थी, इसका उल्लेख महाभारत स्वर्गारोहणपर्वके चतुर्थ अध्यायमें है ।

प्र०—गीताको भगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखारविन्दसे वर्णन किया है या (उसके) रचयिता कोई और पुरुष थे ?

उ०—गीता भगवान्‌के ही श्रीमुखका वचनामृत है । गीतामें जितने वचन 'श्रीभगवानुवाच'के नामसे है उनमें कुछ तो जो श्रुतियोके प्राय: ज्यों-के-त्यों वचन है, अर्जुनको श्लोकरूपमें ही कहे गये थे और अवशेष सवाद बोलचालकी भाषामें हुआ था जिसको भगवान् श्रीव्यासदेवने श्लोकोंका रूप दे दिया ।

गीतोक्त
संन्यास या सांख्ययोग

एक सज्जनका प्रश्न है कि—

'गीतामें वर्णन किये हुए संन्यासका स्वरूप क्या है ?'

गीताका मर्म बतलाना बड़ा कठिन कार्य है। गीता ऐसा गहन ग्रन्थ है कि इसपर अबतक अनेक बड़े-बड़े विद्वान् साधु-महात्माओंने अपनी बुद्धिका उपयोग किया है और अपने-अपने विचार प्रकट किये है, इतना होते हुए भी इस गीताशास्त्रके अदर गोता लगानेवालोंको इसमें नये-नये अमूल्य रत्न मिलते ही चले जा रहे हैं, ऐसे शास्त्रका रहस्य क्या बतलाया जाय ? यद्यपि गीताशास्त्र पर विवेचन करना मेरी बुद्धिसे बाहरकी बात है तथापि मैं अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार अपने मनमें समझे हुए साधारण भावोंको आपलोगोंकी सेवामें उपथित करता हूँ। मेरा उद्देश्य किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, मत या किसी टीकाकारपर कुछ भी आक्षेप करना नही है। केवल मनके भावोंको बतला देनामात्र ही मेरा उद्देश्य है।

गीतोक्त सन्यासके सम्बन्धमे बड़ा मतभेद है—

(१) एक पक्ष कहता है कि गीतामें संन्यास और कर्मयोग नामक दो निष्ठाओंका वर्णन है जिनमे केवल संन्यास ही मुक्तिका प्रधान और प्रत्यक्ष हेतु है और वह संन्यास सम्यक् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोका स्वरूपसे त्याग करना है, अर्थात् शास्त्रोक्त संन्यासाश्रमका ग्रहण करना है।

(२) दूसरा पक्ष कहता है कि यद्यपि शास्त्रोक्त संन्यासाश्रम अर्थात् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंके स्वरूपसे त्यागसे भी भगवत्-प्राप्ति हो सकती है परन्तु गीतामें इसका प्रतिपादन नहीं है, यदि कहीं है तो वह अत्यन्त गौणरूपसे है। गीता तो केवल एकमात्र निष्काम कर्मयोगका ही प्रतिपादन करती है एवं गीतामें आये हुए संन्यास शब्दका समावेश भी प्रायः निष्काम कर्मयोगमें ही है।

(३) एक तीसरा पक्ष है जो कर्मोंके स्वरूपसे त्याग किये जानेवाले शास्त्रोक्त सन्यास-आश्रमको मानता हुआ भी गीतामें कथित सांख्य और कर्मयोग नामक दोनों भिन्न-भिन्न निष्ठाओंको भगवत्-प्राप्तिके दो सर्वथा स्वतन्त्र साधन समझता है और सांख्य या संन्यास शब्दसे संन्यास-आश्रम नही समझता। परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्द-घन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेको ही सन्यास कहता है।

गौणरूपसे और भी कितने ही पक्ष है; परन्तु उन सबका समावेश प्रायः उपर्युक्त तीन पक्षोंके अन्तर्गत हो जाता है। अब इस बातपर विचार करना है कि इनमेसे कौन-सा पक्ष अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही है। इस पर क्रमशः विचार किया जाता है—

(१) पहले पक्षके सिद्धान्तानुसार यदि संन्यासको ही मुक्तिका एकमात्र हेतु मान लेते हैं तो गीतामे जहाँपर भगवान्‌ने कहा है—

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'

(५। ५)

'जो स्थान ज्ञानयोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है वही निष्काम

कर्मयोगियोंद्वारा भी प्राप्त किया जाता है' इन वाक्योंका कोई मूल्य नहीं रहता। यहाँ भगवान्ने स्पष्टरूपसे सांख्ययोगके समान ही निष्काम कर्मयोगको भी स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया है।

इसके सिवा इसी अध्यायके द्वितीय श्लोकमें संन्यास और कर्मयोग दोनोंको परम कल्याण करनेवाले कहा है और कर्मयोगको सन्यासकी अपेक्षा उत्तम बतलाया है, इस अवस्थामें यह कैसे माना जा सकता है कि निष्काम कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है; अवश्य ही दोनों साधनोंके स्वरूपमें बड़ा भारी अन्तर है और दोनोंके अधिकारी भी दो प्रकारके साधक होते हैं, एक साथ दोनों साधनोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता। भिन्न-भिन्न समयपर दोनों साधनोंका प्रयोग एक साधक भी कर सकता है, इससे यह तो सिद्ध हो गया कि दोनों ही साधन मोक्षके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, अब विचारना यह है कि यहाँ संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रम विवक्षित है या और कुछ? अर्जुनके इस प्रश्नसे कि—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

(गीता ५।१)

'हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और कर्मयोगकी भी प्रशंसा करते हैं इसलिये इन दोनोंमेंजो एक निश्चित कल्याणकारक साधन हो उसको मुझे बतलाइये।' यदि यह मान लिया जाय कि गीतामें संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त सन्यास-आश्रम या नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग विवक्षित है तो यह बात युक्तियुक्त नहीं जँचती; क्योंकि इसके पहले भगवान्ने ऐसे किसी आश्रमविशेषकी या कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करने-

की कहीं प्रशंसा नहीं की है जिसके आधारपर अर्जुनके प्रश्नका यह अभिप्राय माना जा सके। भगवान्‌ने तो इससे पहले स्थान-स्थानपर ज्ञानकी और वैराग्यादि सात्त्विक भावोंकी एवं शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तृत्व-अभिमानके त्यागकी ही प्रशन्साकी है; इतना ही नहीं, इसके साथ-ही-साथ ज्ञानीके शरीर द्वारा नियतकर्म किये जानेकी भी आवश्यकता दिखलायी है। (अध्याय ३ । २०–२३, २५–२७, २९–३३, अध्याय ४ । १५)

सम्यक् ज्ञानपूर्वक सन्यास-आश्रमसे सुगमताके साथ मुक्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु मेरी समझमें उस मुक्तिमें संन्यास-आश्रम हेतु नहीं, उसमें हेतु है सम्यक् ज्ञान, जो सभी वर्ण और आश्रमोंमें उपलब्ध हो सकता है। (६ । १-२)

इसके सिवा यह गीतामें निर्विवाद सिद्ध है कि सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा स्वरूपसे त्याग कभी हो भी नही सकता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(३ । ५)

यदि कोई कुछ त्याग भी करे तो गीताने उसे तामसी त्याग माना है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
(१८ । ७)

और केवल उन स्वरूपसे वाहरी कर्मोंके त्यागसे सिद्धिकी प्राप्ति भी नही वतलायी।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

(३ । ४)

बल्कि आगे चलकर वाणी और इन्द्रियोंसे भी हठपूर्वक कर्म न कर मनसे विषयचिन्तनकी निन्दा की है और उसे मिथ्याचार बतलाया है। (अ० ३।६) इसीकेअगले श्लोकोंमें वशमें की हुई इन्द्रियोंसे अनासक्त होकर कर्मयोगके आचरण करनेवालेको श्रेष्ठ बतलाया है। (अ० ३ । ७)

ऐसी अवस्थामे बाहरी कर्मोंके स्वरूपसे त्यागको ही संन्यास मान लेनेपर उसमें मुक्तिकी सम्भावना नही रहती और यदि मुक्ति नही होती तो भगवान्‌ने जो पाँचवें अध्यायमें कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

(५ । २)

'कर्मोका संन्यास और निष्काम कर्मयोग—यह दोनों ही परम कल्याणप्रद हैं' इस सिद्धान्तमें बाधा आती है। क्योंकि केवल बाहरी कर्मोका स्वरूपसे त्यागी तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार तामस त्यागी कहा गया है।

यहाँका यह 'निःश्रेयस' और तीसरे अध्यायके चतुर्थ श्लोकका 'सिद्धिम्' शब्द दोनो ही कल्याणवाची है। यदि उस सिद्धिको मुक्तिका वाचक न मानकर नीची अवस्थाका मानते हैं तो केवल कर्मत्यागसे कल्याण न होनेका पक्ष और भी पुष्ट होता है; जब नीची श्रेणीकी सिद्धि ही कर्मत्यागसे नही मिलती, तब मोक्षरूप परम सिद्धि तो कैसे मिल सकती है? इन सब बातोका विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि गीतामें संन्यास शब्द ज्ञानयोगका

वाचक है और इसका सम्बन्ध अन्तःकरणके भावोंसे ही है, किसी बाहरी अवस्थाविशेषसे नही। न किसी वर्ण या आश्रमसे ही इसका सम्बन्ध सिद्ध होता है, यह तो भगवत्-प्राप्तिका एक परम साधन है, जो सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें काममें लाया जा सकता है।

लोगोंकी यह मान्यता है कि सांख्यनिष्ठाका अधिकार केवल सन्यास-आश्रममें ही है, किन्तु यह मान्यता ठीक नही मालूम होती। यदि ऐसा होता तो भगवान्‌के द्वारा दिये हुए सांख्यनिष्ठाके विस्तृत उपदेशमें, जो गीताके द्वितीय अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक है, युद्धके लिये अर्जुनको उत्साहित नही किया जाता (देखो गीता २। १८) तथा अष्टादस अध्यायमें जब त्याग और संन्यासका स्वरूप जाननेकी जिज्ञासासे अर्जुनने भगवान्‌से स्पष्टरूपसे प्रश्न किया; तब भगवान्‌ने पहले त्यागका स्वरूप 'फलासक्ति-त्याग' बतलाकर (देखो अध्याय १८ श्लोक ९ से ११) फिर सांख्य यानी संन्यासका सिद्धान्त सुनने के लिये अर्जुनको आज्ञा देते हुए आगे चलकर यह स्पष्ट कहा है कि पाँच कारणोंसे होनेवाले प्राकृतिक कर्मोमे जो अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता मानता है वह दुर्मति आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं देखता यानीकर्तापनका अहंकार रखनेवाला साख्ययोगी नही है। सांख्ययोगी वही है–

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

(१८ । १७)

'जिसके 'मै कर्ता हू' ऐसा भाव नही रखता और जिसकी बुद्धि सासारिक पदार्थोंमे और कर्मोंमें कभी लिप्त नहींहोती,अतएव अहंकारका त्याग ही सन्यास है। स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको भगवान् सन्यास

मानते तो मनसे त्याग करनेकी बात नही कहते (देखो अध्याय ५।१३)

इससे यह सिद्ध होता है कि सांख्य अथवा संन्यास कर्मोके स्वरूपसे त्यागका नाम नही है और सन्यासके समान ही निष्काम कर्मयोग भी मुक्तिका प्रत्यक्ष हेतु है।

(२) द्वितीय पक्षके अनुसार यदि यह माना जाय कि गीतामें केवल निष्काम कर्मयोग का ही वर्णन है और सन्यास शब्दका भी समावेश इसीमें होता है तो यह बात भी ठीक नही जँचती; क्योंकि अर्जुनकी शङ्काओंका निराकरण करते हुए भगवान्ने दोनों निष्ठाओंका अधिकारी-भेदसे स्वतन्त्र वर्णन किया है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३।३)

दूसरे अध्यायमें तो इन दोनों निष्ठाओंका सविभाग पृथक्-पृथक् वर्णन है। सांख्ययोगका वर्णन कर चुकनेके बाद भगवान्ने कहा है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

(२।३९)

'यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और इसीको (अब) निष्काम कर्मयोगके विषयमें सुन।' ऐसे और भी अनेक वचन हैं जिनसे दोनों निष्ठाओंका स्वतन्त्र वर्णन सिद्ध होता है (देखो गीता अध्याय ५ श्लोक १ से ५) इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों निष्ठाओका फलरूपसे पर्यवसान एक परमात्मामें ही है परन्तु दोनोंका स्वरूप सर्वथा भिन्न है, दोनों निष्ठाओंके साधकोंकी कर्म और विचारशैली तथा दोनोके भाव और पथ सर्वथा भिन्न हैं। निषेध

कर्मयोगी साधन-कालमें कर्म, कर्मफल परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो ईश्वरार्पणबुद्धिसे ही सब कर्म करता है (देखो गीता ३ । ३० ; ४ । २० ; ५ । १० ; ९ । २७-२८ ; १२ । ११-१२ ; १८ । ५६-५७) ।

परतु सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है । (देखो गीता ३ । २८ ; ५ । ८-९ ; १३ ; ६ । ३१ ; १३ । २९-३० ; १४ । १९-२० , १८ । १७, ४९—५५) ।

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५ । ११), सांख्ययोगी अपनेको कर्ता नही मानता (५ । ८-९), निष्काम कर्मयोगी अपनेद्वारा किये कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९ । २७-२८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नही मानता (१८-१७) । निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है (१२ । ६-७), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६ । २९-३१ ; ७ । १९ ; १८ । २०) । निष्काम कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८ । ९, ६१) । सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नही मानता (१३ । ३०), यदि कही कुछ मानता हुआ देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये अध्यारोपसे, यथार्थमे नहीं । वह प्रकृतिको मायामात्र मानता है, वस्तुतः कुछ भी नही मानता, निष्काम कर्मयोगी कर्मोंसे फल उत्पन्न हुआ करता

है ऐसा समझता हुआ अपनेको फल और आसक्तिका त्यागी समझता है, फल और कर्मकी सत्ता अलग-अलग मानता है, सांख्य-योगी न तो कर्म और फलोंकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है, निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है, सांख्योगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा कर्म स्वभावसे ही होते हैं, वह करता नहीं(५ । १४) । निष्काम कर्मयोगीकी मुक्तिमें हेतु उसका विशुद्ध निष्कामभाव, भगवत्-शरणागति और भगवत्कृपा है(२ ।५१; १८ ।५६), सांख्ययोगीकी मुक्तिमें हेतु एक सच्चिदा-नन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्न भावसे निरन्तर गाढ़ स्थिति है(५ । १७, २४) । इसलिये फलमें अविरोध होते हुए भी दोनों साधनोंमे परस्पर वड़ा भेद है और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र है । इसमें कोई सदेह नही कि श्रीभगवान्ने अर्जुनके प्रति उसके उपयुक्त समझकर भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगीके लिये ही आज्ञा दी है;परतु गीतामें सांख्यनिष्ठाका वर्णन भी कम विस्तारसे नही है, स्थान-स्थानपर भगवान्ने सांख्यनिष्ठाकी वड़ी प्रशसा की है । कर्मयोगका विशेषत्व इसीलिये बतलाया है कि वह सुगम है और उसका साधन देहाभिमानी भी कर सकता है परंतु सांख्ययोग इसकी अपेक्षा बड़ा कठिन है (देखो गीता अध्याय ५ । ६) । इससे यह सिद्ध होता है कि गीतामें दोनो ही निष्ठाओका वर्णन है । न केवल कर्मयोगका ही प्रतिपादन किया गया है और न केवल सांख्ययोगका ही और न संन्यास शब्दका समावेश कर्मयोगमें ही होता है ।

इस विवेचनसे यह पता लग जाता है कि गीतामें दोनों निष्ठाओंका वर्णन है और उनमें सांख्य या संन्यासका अर्थ कर्मो-का स्वरूपसे त्याग नही है ।

(३) अब तीसरे पक्षके सिद्धान्तोंपर विचार करनेसे यह विश्वास होता है कि इसके सिद्धान्त अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही हैं। वास्तवमें संन्यास शब्दका अर्थ गीतामें सांख्य या ज्ञानयोग ही माना गया है। संन्यास, सांख्ययोग, ज्ञानयोग आदि शब्दोंसे एक ही निष्ठाका वर्णन है। गीताके अध्याय १८ में ४९ से ५५ वें श्लोक-तक इसी ज्ञाननिष्ठाका विस्तृत वर्णन है। ४९ वे श्लोकमें 'परमा-नैष्कर्म्यसिद्धिम्' का प्राप्त होना जिस संन्याससे बतलाया गया है वह सन्यास ज्ञानयोग ही है।इन श्लोकोंके विवेचनसे पता लगता है कि अभेदरूपसे परब्रह्म परमात्माका जो ध्यान किया जाता है और उस ध्यानका जो फल होता है उसीको पराभक्ति कहते है और वही इस ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है। इस प्रकारके ज्ञानयोगका साधक सम्पूर्ण संसारके पदार्थों और कर्मोंको त्रिगुणमयी मायाका ही विस्तार समझता हुआ अपनेको द्रष्टा साक्षी मानता है (१४। १९-२०)। और वह ब्रह्मसे नित्य अभिन्न होकर ब्रह्ममें ही विचरता है(५। २६, ६।३१)। वह सम्पूर्ण कर्मोका विस्तार मायामें ही देखता है (देखो गीता ३। २७-२८)। वह शरीर और मन-इन्द्रियों द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका अत्यन्त अभाव समझता है इन्द्रियाँ ही अपने विषयोंमें विचरती हैं, आत्मा इनसे अत्यन्त परे और भिन्न है। इस तरह समझकर साधनकालमे भी वह अपनेमें कर्तृत्वभाव-को नही देखता; परंतु मायाकी जगह भी वह एक ब्रह्मका ही विस्तार समझता है और यो समझनेसे उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसे भिन्न और कोई भी वस्तु नही रह जाती। सम्पूर्ण संसारको वह एक ब्रह्मका ही कार्यरूप देखता है। साधन-कालमें प्रकृति और उसके कार्योंको

आत्मासे भिन्न, अनित्य और क्षणिक देखता हुआ तथा अपनेको अकर्ता, अभोक्ता मानकर एक आत्माको ही सब जगह व्यापक समझकर साधनमें रत रहता है और अन्तमें जब एक ब्रह्मसत्ताके सिवाय और सबका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब वह उस अनिर्वचनीय परमपदको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नही। मन, बुद्धि, अन्तःकरणादि भी ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। एक वासुदेवके सिवा कोई वस्तु शेष नही रह जाती (गीता ५। १७; ७।१९)। वह इस चराचर संसारके बाहर-भीतर और चराचरको भी परब्रह्म परमात्माका रूप ही समझता है (देखो गीता १३। १५)।

ऐसे पुरुषके द्वारा साधन और सिद्धकालमें लोकदृष्टिसे कर्म तो बन सकते है, परंतु उन सर्व कर्मोमें और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोमें एक ब्रह्मसे भिन्न दृष्टि न रहनेके कारण तथा कर्तापनके अभावसे उसके वे कर्म नही समझे जाते (देखो गीता १८। १७)।

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि तीसरे पक्षके सिद्धान्तानुसार गीताका संन्यास, संन्यास-आश्रम नही है; परंतु सम्पूर्ण कर्मोमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर एक सर्वव्यापी सच्चिदानन्दनघन परमात्मामे ऐक्यभावसे नित्य स्थित रहना ही है और इसीलिये उसका उपयोग सभी वर्ण और आश्रमोंमें किया जा सकता है। इसीका नाम ज्ञानयोग है। इसीको सांख्ययोग कहते हैं। और यही गीतोक्त संन्यास है।

इसीके साथ-साथ यह भी ठीक है कि गीतामें कर्मयोगनामक एक दूसरे स्वतंत्र साधनका भी विस्तृत वर्णन है, जिसमें साधक फल और आसक्तिको त्यागकर भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्-अर्थ समत्वबुद्धिसे कर्म करता है। यही कर्मयोग गीतामे समत्वयोग,

बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म और मत्कर्म आदि नामोंसे कहा गया है। इस निष्काम कर्मयोगमें भी भक्तिप्रधान कर्मयोग मुख्य है और इसीसे साधकको शीघ्र सिद्धि मिलती है (६ । ४७)।

इस प्रकार दोनों निष्ठाओंकी सिद्धि होती है। इससे कोई यह न समझे कि मैं शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रमका विरोध करता हूँ या संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुषकी सम्यक् ज्ञानके द्वारा मुक्ति नही मानता, परंतु मेरी समझसे गीताका संन्यास किसी आश्रमविशेष-पर लक्ष्य नहीं रखकर केवल ज्ञानपर अवलम्बित है अतएव गीतामे सबका ही अधिकार है।

मैं तो यह भी मानता हूँ कि साख्यनिष्ठाके साधकोंको सन्यास-आश्रममे अधिक सुविधाएँ हैं। अस्तु।

कुछ लोगोके मतमें गीताका साख्य शब्द महर्षि कपिलप्रणीत साख्यदर्शनका वाचक है; परन्तु विचार करनेपर यह बात उचित नही मालूम होती। गीताका सांख्य कपिलजीका सांख्यदर्शन नही है, इसका सम्बन्ध ज्ञानसे है। गीता अध्याय १३ । १९-२० में प्रकृति-पुरुष शब्द आते हैं जो सांख्यदर्शनसे मिलते-जुलते-से लगते हैं, परन्तु वास्तवमें इनमें बड़ा अन्तर है।

सांख्यदर्शन पुरुष नाना और उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न मानता है; परन्तु गीता एक ही पुरुषके अनेक रूप मानती है (देखो गीता अध्याय १३ । २२; १८ । २०)। गीतामें भूतोके पृथक्-पृथक् भाव एक ही पुरुषके भाव है। सांख्यदर्शन सृष्टिकर्ता ईश्वरको स्वीकार करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीताका सांख्य महर्षि कपिलके सांख्यसे भिन्न है।

एक बात और है । गीताका ध्यानयोग दोनों निष्ठाओंके साथ रहता है । इसीलिये भगवान्‌ने ध्यानयोगको पृथक् निष्ठाके रूपमे नहीं कहा । ध्यानयोग निष्काम कर्मके साथ भेदरूपसे रहता है और सांख्ययोगके साथ अभेदरूपसे रहता है । सांख्ययोग तो निरंतर सच्चिदानन्दघन परमात्माका अनन्य भावसे ध्यान हुए बिना सिद्ध ही नहीं होता ।

इन दोनों निष्ठाओंके बिना केवल ध्यानयोगसे भी परमपदकी प्राप्ति हो सकती है ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।

(१३ । २४)

(इसके सिवा देखो ९ । ४-५, ६; १२ । ८)

परन्तु यह निष्ठा भिन्न नही समझी जाती; क्योंकि अभेदरूपका ध्यान सांख्ययोग और भेदस्वरूपका ध्यान कर्मयोगविषयक समझा जा सकता है ध्यानयोगका साधन अलग इसीलिये बतलाया गया है कि यह कर्मोंकी और कर्मोंके त्यागकी अपेक्षा नही रखता, परतु दोनोंका सहायक हो सकता है । कर्मोंके आश्रय या त्याग किये बिना भी केवल ध्यानयोगसे ही मुक्ति हो सकती है ।

यह साधन परमोपयोगी और स्वतन्त्र होते हुए भी निष्ठारूप-से अलग नही माना गया है । अतएव साधकोंको चाहिये कि वे अपने-अपने अधिकारानुसार ध्यानयोगसहित दोनों निष्ठाओंमें से किसी एकका अवलम्बन कर भगवत्प्राप्तिके लिये प्रयत्न करे ।

गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप

'गीताका निष्काम कर्मयोग भक्तिमिश्रित है या भक्तिरहित ? यदि भक्तिमिश्रित है, तो उसका क्या स्वरूप है ?'

इस प्रश्नपर विचार करते समय आरम्भमें कर्मोंके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंपर कुछ सोच लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। कर्म कई प्रकारके है, जिनको हम प्रधानतया तीन भागोमें बाँट सकते हैं–निषिद्धकर्म, काम्यकर्म और कर्तव्यकर्म ।

चोरी, व्यभिचार, हिंसा, असत्यभाषण, कपट, छल, जबरदस्ती, अभक्ष्य-भक्षण और प्रमादादिको निषिद्धकर्म कहते है।

स्त्री,पुत्र,धनादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये एवं रोग-सङ्कटादि की निवृत्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंको काम्यकर्म कहते हैं।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, यज्ञ, दान, तप, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, वर्ण तथा आश्रमके धर्म और शरीर-सम्बन्धी खान-पानादि कर्मोंको कर्तव्यकर्म कहते हैं।

'कर्तव्यकर्म' भी कामनायुक्त होनेसे काम्यकर्मोंके अन्तर्गत समझे जा सकते है; परन्तु उनमे वर्णाश्रमके स्वाभाविक धर्म तथा जीविकाके कर्म भी सम्मिलित हैं इसलिये उनके पालन करनेकी मनुष्यपर विशेष जिम्मेवारी रहती है। किसी खास विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्यकर्म करना-न-करना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है इसीलिये इनका अलग-अलग भेद है।

इन तीन प्रकारके कर्मोंमे निषिद्धकर्म तो सभीके लिये सर्वथा त्याज्य है। मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंके लिये काम्यकर्मोंकी कोई आवश्यकता नहीं, रहे 'कर्तव्यकर्म' जिनकी संज्ञा भावोंके भेदसे सकाम और निष्काम दोनो ही हो जाती हैं। जबसे—

सकाम कर्म—

—के अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तबसे आरम्भकर कर्मकी समाप्तिके बाद चिरकालतक मनमें केवल फलका अनुसन्धान रहता है। ऐसे कर्म करनेवालेकी चित्तवृत्तियाँ पद-पदपर अपने लक्ष्य-फलको विषय करती रहती है। यदि धनके लिये कर्म होता है, तो उसे पल-पलमें उसी धनकी स्मृति होती है। उसका चित्त धनाकार बना रहता है। कर्मकी सिद्धिमें जब उसे धन मिलता है, तब वह हर्षित होता है और जब असिद्धि होती है, धन नहीं मिलता या अन्य कोई बाधा आ जाती है, तब उसे बड़ा क्लेश होता है। उसका चित्त फलानुसन्धानवाला होनेके कारण प्रायः निरन्तर व्यथित और अशान्त रहता है। ऐसे पुरुषका विषयविमोहित चित्त किसी-किसी समय उसे निषिद्धकर्मोंके करनेमें भी प्रवृत्त कर सकता है। यद्यपि शास्त्रके आज्ञानुसार कर्मोका आचरण करनेवाला सकामी पुरुष निषिद्ध-कर्मोका आचरण करना नही चाहता, तथापि विषयोंका लोभ बना रहनेके कारण उसके गिर जानेका भय बना ही रहता है। कहीं कर्ममें कुछ भूल हो जाती है, तो उसे सिद्धि तो मिलती ही नही, उल्टे प्रायश्चित्त या दुःखका भागी होना पडता है। परन्तु—

निष्काम कर्म—

—का आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामीसे अत्यन्त विलक्षण होती है। उसके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नही रहती, वह जो कुछ कर्म करता है, सो सब फलकी इच्छाको छोड़कर आसक्तिरहितहोकर करता है। यहाँपर यह प्रश्न होताहैकि 'यदि उसे फलकी इच्छा नहीहै तो वह कर्म करता ही क्यों है? संसारमें साधारण मनुष्य बिना किसी हेतुके कर्म कर ही नही सकता और हेतु किसी-न-

किसी फलका ही होता है। ऐसी स्थितिमें फलकी इच्छा बिना कर्मों का होना सिद्ध नहीं होता।' यह ठीक है। साधारण मनुष्यके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें किसी-न-किसी हेतुका रहना अनिवार्य है, परन्तु हेतुके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सकामभावसे कर्म करनेवाला पुरुष भिन्न-भिन्न फलोंकी कामनासे नाना प्रकारके कर्मोंको करता है, उसके कर्मोंमें हेतु है 'विषय कामना'। और इसीलिये वह आसक्त होकर कर्म करता है, उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है (देखो २ । ४२-४४; ९ । २०-२१)। इसीलिये वह कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें सुखी और दुखी होता है; परन्तु निष्कामभावसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्मोमे हेतु रह जाता है एक 'परमात्माकी प्राप्ति'।* इसीलिये वह नित्य नये उत्साहसे आलस्यरहित होकर कर्मोमें प्रवृत्त होता है, सांसारिक फल-कामना न होनेसे वह आसक्त नही होता और कर्मोकी सिद्धि-असिद्धिमें उसे हर्ष-शोकका विकार नहीं होता, क्योंकि उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो गया है, वह कर्मके बाहरी फलपर कोई खयाल नहीं करता; उसकी दृष्टिमें संसारके समस्त पदार्थ उस परमात्माके सामने अत्यन्त तुच्छ, मलिन और क्षुद्र प्रतीत होते है, वह उस महान्-से-महान् परमात्माकी प्राप्तिरूप शुभेच्छामें जगत्के सम्पूर्ण बड़े-से-बड़े पदार्थोंको तुच्छ समझता है (२ । ४९)।

इसीसे सांसारिक विषयरूप फलोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें उसे हर्ष-शोक नही होता। सकामी पुरुषकी भांति उससे निषिद्धकर्म बननेकी भी सम्भावना नही रहती। निषिद्धकर्मोमे कारण है 'आसक्ति या लोभ'। निष्कामी पुरुष जगत्के समस्त पदार्थोका लोभ छोड़कर

---

* निष्काम कर्मयोगीकी परमात्माको प्राप्त करनेकी कामना परिणाममे परम कल्याणका हेतु होनेके कारण कामना नही समझी जाती, भगवत्प्राप्तिकी कामनावाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है।

उनसे अनासक्त होना चाहता है, वह श्रीपरमात्माको ही एकमात्र लोभकी वस्तु मानता है, उसीमें उसका मन आसक्त हो जाता है अतएव उसकी प्राप्तिके अनुकूल जितने कार्य होते हैं वह उन सबको बड़े उत्साहके साथ करता है। यह निर्विवाद बात है कि परमात्मा-की प्राप्तिके अनुकूल तो वे ही कार्य हो सकते हैं जिनके लिये भगवान्‌ने आज्ञा दी है, जो शास्त्रविहित है, जो किसीके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्टकारक नहीं होते; ऐसे कर्मोंमें निषिद्धकर्मोंका समावेश किसी प्रकार भी नही हो सकता, इसीलिये निष्कामी पुरुष सकामी पुरुषसे सर्वथा विलक्षण होता है।

सकामी पुरुष जगत्‌के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीति-कर समझकर उन्हे प्राप्त करनेकी इच्छासे सिद्धिमें सुख और असिद्धि-में दुःख होनेकी प्रत्यक्ष भावनाको लेकर ममतायुक्त मनसे आसक्ति-पूर्वक कर्म करता है और निष्कामी पुरुष सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमे समत्वभाव रखता हुआ आसक्ति और फलकी इच्छाको त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार भगवान्‌के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। यही सकाम और निष्काम कर्मोंमें भावका अन्तर है।

गीतामें निष्काम कर्मोंका आरम्भ—

—दूसरे अध्यायके ३९वे श्लोकसे होता है। ११ से ३०वे श्लोकतक सांख्ययोगका प्रतिपादन करनेके बाद ३१वे श्लोकसे क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करते हुए ३८वे श्लोकमे भगवान् कहते है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

मोहके कारण पाप-भयसे भीत अर्जुनको सुख-दुःख, जय-

पराजय और लाभ-हानिरूप सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं होनेकी बुद्धि सांख्यके सिद्धान्तानुसार बतलाकर अगले श्लोकसे निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन आरम्भ करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
(२ । ३९)

'हे पार्थ ! वह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब इसीको निष्काम कर्मयोग के विषयमें तू सुन । इस बुद्धिसे युक्त होकर कर्म करनेसे कर्म-बन्धनका भलीभाँति नाशकर सकेगा ।'

इसके बादके श्लोकमें निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने जरा-से भी निष्काम कर्मयोगरूपी धर्मको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाया । आगे चलकर ४७वे श्लोकमे कर्मका अधिकार और फलका अनधिकार वर्णन करते हुए ४८वे श्लोकमे भगवान्‌ने, जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने-न-होनेमें तथा उसके फलमे समभाव रहनेका नाम ही 'समत्व' है और इस समत्वभावका कर्मके साथ योगहोनेसे ही वह कर्मयोग बन जाता है, ऐसा कहते हुए अर्जुनको आसक्ति त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें सम-बुद्धि होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी और आगे उसका फल बतलाया 'जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय अमृतमय परमपद परमात्माकी प्राप्ति हो जाना' (देखो गीता २ । ५१) ।

इस प्रकार भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ४७वे से ५१वे श्लोकतक कर्मयोगका विवेचन किया, यद्यपि इस विवेचनमे स्पष्टरूपसे भक्तिका नाम कही नही आया परन्तु इससे यह नही समझना चाहिये कि यह कर्मयोग भक्तिशून्य है । मेरी समझसे गीताकानिष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है । इतना अवश्य है कि कही-कहीपर तो उसका भाव

प्रधानरूपसे अच्छी तरह व्यक्त हो गया है और कही-कहींपर वह गौण होकर अव्यक्तरूपसे निहित है । परमात्माके अस्तित्व और उसे प्राप्त करनेकी शुभ भावना तो सामान्यरूपसे कर्मयोगके प्रत्येक उपदेशमें बनी हुई है । निष्काम कर्मका आचरण ही तभीसे आरम्भ होता है जबसे साधक अपने मनमें परमात्माको पानेकी शुभ और दृढ भावना-को लेकर ससारके भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकका विचार छोडकर फलासक्तिका त्याग कर देना चाहता है ।

जो कर्म भगवान्की प्रीति या प्राप्तिके लिये नहीं होते उनका तो नाम ही कर्मयोग नही होता । कर्मयोग नाम तभी सफल होता है जब कर्मोंका योग परमात्माके साथ कर दिया जाता है । अवश्य ही गीतामें कर्मयोगकी वर्णनशैली दो प्रकारकी है । किसी-किसी श्लोकमें तो भक्ति प्रधानरूपसे स्पष्ट प्रकट है, किसी-किसीमे वह अप्रकटरूपसे स्थित है ।

जहाँ भक्तिका प्रधानरूपसे कथन है वहाँ 'मुझमें अर्पण करके' 'परमात्मामें अर्पण करके' 'मेरा स्मरण करता हुआ कर्म कर' 'सब कुछ मेरे अर्पण कर' 'मदर्थ कर्म कर' 'स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा कर' 'मेरे आश्रय होकर कर्म कर' 'मेरे परायण हो' आदि वाक्य आये है (देखो गीता ३ । ३०; ५ । १०; ८ । ७; ९ । २७-२८; १२ । ६, १०,११; १८ । ४६, ५६, ५७ इत्यादि) । जहाँ भक्तिका सामान्य भावसे अप्रकट विवेचन है वहां ऐसे शब्द नही आते (देखो गीता २ । ४७-४८-४९-५०, ५१; ३ । ७, १९; ४ । १९; ६ । १; १८ । ६, ९ इत्यादि) ।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवत्-भावना दोनों ही वर्णनों-मे है और इसीलिये भगवन्नाम, भगवत्-शरण और भगवदर्थ आदि भावोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोमे स्पष्ट नहीं आते उनके

अनुसार आचरण करनेसे भी जीवको भगवत्प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि उसका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही होता है; इसमें सन्देह नहीं कि कर्मयोगके साथ स्मरण-कीर्तनादि भक्तिका सयोग कर देनेपर भगवत्प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है और सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें ऐसे ही योगी पुरुष उत्तम समझे जाते हैं। भगवान् कहते है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

'सम्पूर्ण कर्मयोगियोमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है वही मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

जो इस भावसे स्पष्टरूपमें भक्तिका संयोग नही करते उनको भी कर्मयोगसे भगवत्प्राप्ति तो होती है परन्तु बहुत विलम्बसे होती है (देखो गीता ४।३८, ६।४५)।

गीतामें निष्काम कर्मयोगका वर्णन 'समत्वयोग' 'बुद्धियोग' 'कर्मयोग' 'तदर्थकर्म' 'मदर्थकर्म' 'मदर्पण' 'मत्कर्म' और 'सात्त्विक त्याग' आदि अनेक नामोंसे किया गया है। इन सबका फल एक होनेपर भी इनके साधनकी क्रियाओंमें भेद है, उदाहरणार्थ यहाँ—

मदर्पण और मदर्थका भेद—

—कुछ अंशमें बतलाया जाता है। मदर्पण या भगवदर्पण एक है तथा मदर्थ, तदर्थ या भगवदर्थ एक है। इनमें मदर्पण कर्मका स्वरूप तो यह है कि जैसे एक आदमी किसी दूसरे उद्देश्यसे कुछ धन संग्रह कर रहा है और उसके पास पहलेसे कुछ धन संगृहीत भी है परन्तु वह जब चाहे तब अपने धन-सग्रहका उद्देश्य बदल सकता है और सगृहीत धन किसीको भी अर्पण कर सकता है। कर्मका आरम्भ

करनेके बाद बीचमे या कर्मके पूरे होनेपर भी उसका अर्पण हो सकता है। भक्तराज ध्रुवजी महाराजने राज्यप्राप्तिके लिये तपरूपी कर्मका आरम्भ किया था परन्तु बीचमें ही उनकी भावना बदल गयी, उनका तपरूपी कर्म भगवदर्पण हो गया, जिसका फल भगवत् प्राप्ति हुआ।

साथ ही आरम्भकी ईच्छानुसार उन्हे राज्य भी मिल गया, परन्तु वह राज्य साधारण लोगोकी तरहसे बाधक नहीं हुआ। यह भगवदर्पण कर्मकी महिमा समझना चाहिये। अतएव आरम्भमें दूसरा उद्देश्य होनेपर भी कर्म बीचमें या पीछे भगवान्‌के अर्पण कर दिया जाता है वह भी भगवदर्पण हो-जाता है।

मदर्थ या भगवदर्थ कर्ममे ऐसा नही होता, वह तो आरम्भसे ही भगवान्‌के लिये ही किया जाता है। किसी देवताके उद्देश्यसे प्रसाद बनाना या ब्राह्मण-भोजनके लिये भोजनकी सामग्रियोंका संग्रह करना जैसे आरम्भसे ही एक निश्चित उद्देश्यको लेकर होता है उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधकके प्रत्येक कर्मका आरम्भ श्रीभगवान्‌के उद्देश्यसे हुआ करता है। भगवदर्थ कर्मके कई भेद अवश्य हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिके प्रयोजनसे कर्म करना भगवानकी आज्ञा मानकर कर्म करना और भगवत्सेवास्वरूप कर्मों-में नियुक्त होना आदि।

यह तो भक्तिप्रधान कर्मयोगकी बात हुई। इसके सिवा समत्व-योग, कर्मयोग और सात्त्विक त्याग आदि सब मिलते-जुलते-से ही वाक्य हैं। द्वितीय अध्यायमें ४७ से ५१वें श्लोकतक जिनका कर्मयोग आदिके नामसे वर्णन है, उसीका अठारहवे अध्यायमें ६ठे और ९वे श्लोकमें त्यागके नामसे वर्णन है। वास्तवमें फल और आसक्तिका त्याग तो सभीमे रहता है। भक्तिप्रधान या कर्मप्रधान दोनों प्रकारके वर्णन निष्काम कर्मयोगके लिये ही है। इससे यह सिद्ध हो गयाकि

भगवत्प्राप्तिके लिये किया जानेवाला कर्म ही निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम कर्मयोगीको परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मोंको छोड़कर एकान्तमें भजन-ध्यान करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि कोई करे तो कोई आपत्ति नहीं है। भजन-ध्यान तो सदा-सर्वदा ही परम श्रेष्ठ है। परन्तु एकान्तमें भजन-ध्यान न करके भी भगवच्चिन्तनसहित शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही वह साधक परमात्माकी शरण और उसकी कृपासे परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५६-५७)

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है इसलिये सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

वास्तवमें कर्मोंकी क्रिया मनुष्यको नहीं बाँधती; फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। फल और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८ । ४६)

'जिस परमात्मासे सारे भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् जलसे बर्फकी भाँति व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है ।'

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर पतिका ही चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन, वाणी, शरीरसे संसारके समस्त नियत (अपने जिम्मे बंधे हुए) कर्मोंको करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है, इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिन्तन करता हुआ उसीके आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीर-से उस परमात्माके ही लिये अपने कर्तव्यकर्मका आचरण कर परमात्माकी प्रसन्नता और परमात्माको प्राप्त करता है ।

समस्त चराचरमें—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें—परमात्माको व्यापक समझकर, सभीको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम कर्मयोगीभक्त भगवान्‌की पूजा करता है। एक महाराजाधिराज सम्राट्‌की प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं होती कि उसके सभी कर्मचारी एक ही प्रकारका कार्य करें, सभी दीवान बनें या सभी सेनापति हों। अपने-अपने योग्यतानुसार जिसके जिम्मे जो काम महाराजके द्वारा सौंपा हुआ है, उसे अपने उसी काममें महाराजको सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उसको

चाहिये कि वह दूसरोंके अच्छे-से-अच्छे कामकी ओर तनिक भी न ताककर प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपना काम कुशलताके साथ करे। राजदरबारका एक विद्वान् पण्डित वेदगान सुनाकर राजाको जितना प्रसन्न कर सकता है उतनाही महलोमे झाड़ू देनेवाला राजाका परम आज्ञाकारी मामूली वेतनका नौकर भी महलोकी सफाई-सुथराई रखकर कर सकता है। अपना कर्तव्यकम छोड़नेकी किसीको भी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए स्वार्थ छोड़कर अपने कर्तव्यकर्म उस प्रभुके अर्पण करनेको। यही अपने कर्मोंसे परमात्माकी पूजा है और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति होजाती है।

निष्काम कर्मयोगीका लक्ष्य रहता है केवल एक परमात्मा। जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममे धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है। किसी तरह धन मिलना चाहिये केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है। जिस काममे रुपये लगते हैं, रुपये नही आते या उनके आनेमे कुछ बाधा होती है उस कामके वह समीप भी जाना नही चाहता। वह केवल उन्ही कार्योंको करता है जो धनकी प्राप्तिके अनुकूल या सहायक होते है। इसी प्रकार निष्काम कर्म-योगी भी 'आठ पहर चौसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्ही सव कर्मोंको करता है जो ईश्वरको सन्तुष्ट करनेवाले होते है। वह भूलकर भी परमात्माकी प्राप्तिमें वाधक चोरी-जारी, झूठ-कपट मादक द्रव्यसेवन और अभक्ष्य-भक्षणादि निषिद्धकर्मोंको और व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले प्रमादादि कर्मोंको नही करता। करना तो दूर रहा, ऐसे कार्य उसे किसी तरह सुहाते ही नही। वह निरन्तर उन्ही न्यायुक्त और शास्त्रविहित कर्मोंके सोचने और करनेमे प्रवृत्त रहता है जो उसके चरम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल और उसमे सहायक होते हैं। वह दूसरोके सुहावने और मान-वड़ाईवाले

कर्मोंकी ओर लोलुपदृष्टिसे कभी नही देखता । चुपचाप स्वाभाविक ही अपने कर्तव्य कर्मको करता चला जाता है । वह यह नही देखता कि अमुक कर्म छोटा है, अमुक बड़ा है; क्योंकि वह इस बातको जानता है कि कर्मोका स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमे हेतु नहीं है, उसमे हेतु है अन्तःकरणका भाव । भावसे ही मनुष्यका उत्थान और पतन होता है । इसीलिये वह दूसरेकी देखा-देखी किसी भी ऐसे ऊँचे-से-ऊँचे धर्मको भी करना नही चाहता जो उसके लिये विहित नही है । वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्ममे अमुक दोष है, दूसरे-का अमुक कर्म सर्वथा निर्दोष है । वह समझता है कि दूसरेके गुण-युक्त उत्तम कर्मकी अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म ही अपने लिये श्रेष्ठ और आचरण करने योग्य है । स्वधर्मके पालनसे मनुष्यको पाप नही लगता (देखो गीता १८ । ४७) । आजकल इस निष्काम कर्मके रहस्यको न समझकर ही लोग सबको एकाकार करनेकी व्यर्थ चेष्टामे लगे हुए हैं ।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

(गीता १८ । ४८)

'दोषयुक्त भी कर्तव्यकर्म नहीं त्यागना चाहिये; क्योकि धूमसे (ढकी हुई) अग्निके समान सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे ढके हुए होते हैं ।'

जो मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है उसके स्वाभाविक कर्म ही उसका स्वधर्म है, भारतवर्षकी सुव्यवस्थित वर्णव्यवस्था इसका परम आदर्श है । जो लोग इस वर्णव्यवस्थाको तोड़नेका प्रयत्न करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं, जगत्‌में भेद तो कभी मिट नही सकता, व्यवस्थामें विशृङ्खलता अवश्य ही हो सकती है जो और भी दुःखदायिनी होती है । जिस जाति या समुदायमे मनुष्य उत्पन्न

होता है, जिन माता-पिताके रज-वीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर अपने कर्तव्यको समझनेकी बुद्धि आनेतक जिन संस्कारोंमें उसका पालन-पोषण होता है, प्रायः उन्हींके अनुकूल कर्मोंमे उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और उत्साह होता है। इसलिये वही उसका स्वभाव या प्रकृति समझी जाती है। और इस स्वभाव या प्रकृतिके अनुकूल विहित कर्मोंको ही गीतामें स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावजकर्म और स्वभावनियतकर्म आदि नामोंसे कहा है। साधक पुरुषका जन्म यदि व्यव स्थित वर्णयुक्त समाजमें हुआ हो तो उसे अपना सहजकर्म समझ लेनेमें बड़ी सुगमता है। ऐसा न होनेपर उपर्युक्त हेतुओंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वधर्म निश्चित कर लेना चाहिये।

बस, इसी स्वधर्मके अनुसार आसक्ति और स्वार्थरहित होकर अखिल जगत्में परमात्माको व्यापक समझकर सबकी सेवा करनेके भावसे अपना-अपना कर्तव्यकर्म मनुष्यको करना चाहिये।

एक वैश्य है, दूकानदारी करता है, व्यवसाय उसका कर्तव्यकर्म है। परन्तु वह कर्तव्यकर्म, निष्काम कर्मयोगकी श्रेणीमें तभी जा सकता है जबकि वह स्वार्थबुद्धिसे न होकर केवल परमात्माकी सेवाके निर्मल भावसे हो। दूकानदारी छोड़कर जगलमे जानेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है मनके भावोंको बदलनेकी, स्वार्थ और कामनाका कलङ्क धो डालनेकी। जिस दिन सांसारिक स्वार्थकी जगह मनमे परमात्माको स्थान मिल जाता है उसी दिन उसके वे कर्म, जो बन्धनके कारण थे, स्वरूपसे वैसे ही बने रहकर भी परमात्माकी प्राप्तिके कारण बन जाते है।

पारा और सखिया अमृतका-सा काम दे सकता है, यदि वह चतुर वैद्यके द्वारा शोधकर शुद्ध कर लिया जाय। जिस पारे या-संखियेके प्रयोगसे मनुष्यकी मृत्यु होती है वही पारा या सखिया विषभागके निकल जानेपर अमृत बन जाता है। इसी प्रकार जहाँतक कर्मोंमे स्वार्थ और आसक्ति है वहींतक उनसे बन्धन या मृत्यु प्राप्त होती है, जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति निकालकर कर्मोकी शुद्धि कर ली जाती है उसी दिन वे अमृत वनकर मनुष्यको परमात्माका अमर पद प्रदान करनेमें कारण बन जाते हैं। इसीलिये किसी भी कर्तव्यकर्मके त्यागकी आवश्यकता नही है, आवश्यकता है वुद्धिको शुद्ध करनेकी। एक मनुष्य सकामभावसे यज्ञ, दान, तप करता है और दूसरा एक मनुष्य केवल अपने वर्णका कर्म भिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है; परन्तु करता है सवमें परमात्माको व्यापक समझकर, सवको सुख पहुँचाने और सबकी सेवा करनेके पवित्र भावसे तो वह उस केवल यज्ञ, दान, तप करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योकि उसके कामना न होनेके कारण सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रहता है और निरन्तर परमात्माकी भावना तथा परमात्माकी आज्ञाका ध्यान रहनेसे लोभ और आसक्ति भी पास नही आ सकते। लोभ और आसक्तिके अभावसे उसके द्वारा पाप या निषिद्धकर्मोका होना तो सम्भव ही नहीं होता।

यहाँ मेरा यह तात्पर्य नही है कि यज्ञ, दान, तप नही करने चाहिये या ये क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा ही उत्तम हैं और अन्तःकरणकी शुद्धिमे तथा परमात्माकी प्राप्तिमें वड़े सहायक हैं, परन्तु ऐसा होता है उनका प्रयोग निष्कामभावसे करनेपर ही; अतएव यहाँ जो कुछ लिखा गया है वह केवल निष्काम कर्मयोगकी सच्ची महिमा वतलानेके लिये ही।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी सिद्धहो गया है कि निष्कामकर्मयोगीसे जान बूझकर तो पाप नही बनसकते; परन्तु यदि कही भूल, स्वभाव, अज्ञान या भ्रमसे कोई पाप बन भी जाता है तो वह उसके लागू नही होता, क्योंकि उसका उस कर्ममें कोई स्वार्थ नही है। स्वार्थ-रहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको वाँध नही सकता (देखो गीता ४। १४; ५। १०)। पक्षान्तरमे उसका प्रत्येक कार्य भगवदर्पण होनेके कारण वह परमात्माका सर्वथा कृपापात्र बन जाता है।

राजाके अनेक कर्मचारी होते है, सबको योग्यतानुसार वेतन मिलता है और सभीपर राजाके किसी-न-किसी कामकी जिम्मेवारी रहती है। परन्तु प्रत्येक वैतनिक कर्मचारी राजनियमोसे बँधा हुआ रहता है, यदि भूल या अज्ञानसे भी किसी नियमको कोई कर्मचारी भङ्ग कर देता है तो उसे नियमानुसार दण्डका भागी होना पड़ता है। पर एक ऐसा मनुष्य जो किसी समय किसी प्रकारसे भी राज्य या राजासे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध न कर केवल अहैतुकी राजभक्तिके कारण राजसेवा करता है, उसकी निःस्वार्थ सेवापर राजा मुग्ध रहता है। उसके द्वारा यदि समयपर कोई अज्ञानसे भूल हो जाती है तब भी राजा उससे नाराज नही होता; राजा समझता है कि यह तो राज्यका निःस्वार्थ सेवक है, ऐसा सेवक यदि भूलके लिए दण्ड चाहता है तो राजा कहता है भाई! हम तो तुम्हारे उपकारोसे हो अत्यन्त दवे हुए है, तुम्हारी एक भूलका तुम्हें क्या दण्ड दे। इतना ही नही वल्कि राजा उसके उपकारोसे अपनेको उसका ऋणी समझकर सव तरहसे उसका हित ही करना चाहता है। इसी प्रकार जो परमात्माका निःस्वार्थ सेवक है, जो अपने प्रत्येक कमका समर्पण उस परमात्माकी प्रीतिके लिये उसीके चरणोंमें कर देता है, उससे यदि कोई भूल होती है तो

उसपर अकारण सुहृद् परमात्मा कोई ध्यान नहीं देते । यह अनियम नही है; किन्तु स्वार्थरहित सेवकके लिये यही नियम है ।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता हुआ साधक शेषमें परमात्माको प्राप्त हो जाता है; परन्तु ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तके द्वारा भी लोकशिक्षाके लिये राजा जनकादिकी भाँति आजीवन कर्म हो सकते हैं (देखो गीता ३। २०)। यद्यपि उनके लिये कोई कर्म शेष रह नहीं जाते (गीता ३। १७) परन्तु जहाँतक मन और इन्द्रियाँ सचेत रहती हैं वहाँतक उनके लिये कर्म त्याग करनेमें कोई हेतु नहीं देखा जाता । किन्तु कर्मयोगकी सिद्धिको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं। (देखो गीता २ । ५५ । ५८; १२ । १३–१९) ।

ऐसे भगवत्को प्राप्त हुए महापुरुषके कर्म गीता तृतीय अध्यायके २५वें श्लोकके अनुसार केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं और वे कर्म कामना और संकल्पसे शून्य होनेके कारण स्वरूपसे होते हुए भी वास्तवमें कर्म नही समझे जाते (देखो गीता ४ । १९-२०) ।

इस प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मोको परमात्मामें अर्पण कर देनेके कारण अन्तमें परमात्माके प्रसादसे परमात्माको पा जाता है, जिस कर्ममें आदिसे लेकर अन्त-तक परमात्माका इतना नित्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध है वह कर्म भक्तिरहित कभी नही हो सकता । अतएव गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है ।

—तथा—

'फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌के आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्वबुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोका करना ही उसका स्वरूप है ।'

———

धर्म क्या है ?

प्र०–कृपापूर्वक आप धर्मकी व्याख्या करे ?

उ०–धर्मकी सच्ची व्याख्या कर सके ऐसे पुरुष इस जमानेमें मिलने कठिन हैं।

प्र०–आप जैसा समझते है वैसा ही कहनेकी कृपा करे।

उ०–धर्मका विषय बड़ा गहन है, मुझको धर्मग्रन्थोंका वहुत कम ज्ञान है, वेदका तो मैंने प्रायः अध्ययन ही नहीं किया। मै तो एक साधारण मनुष्य हूँ, ऐसी अवस्थामें धर्मका तत्त्व कहना एक वालकपन-सा है। इसके अतिरिक्त मैं जितना कुछ जानता हूँ उतना भी कह नही सकता; क्योंकि जितना जानता हूँ उतना स्वयं कार्यमे परिणत नही कर सकता।

प्र०–खैर यह बतलाइये कि आप किसको धर्म मानते है ?

उ०–जो धारण करने योग्य है।

प्र०–धारण करने योग्य क्या है ?

उ०–इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली महापुरुषोंद्वारा दी हुई शिक्षा।

प्र०–महापुरुष कौन हैं ?

उ०—परमात्माके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले तत्त्ववेत्ता पुरुष ।

प्र०—उनके लक्षण क्या हैं ?

उ०—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणा एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।

(गीता १२ । १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है ।'

'जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।

(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मामें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान

समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है।'

'जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।' ये महापुरुषोंके लक्षण हैं।

प्र०–इन लक्षणोंवाले कोई महापुरुष हिंदूजातिमें आपकी जानकारीमें इस समय हैं ?

उ०–अवश्य हैं; परन्तु मैं कह नहीं सकता।

प्र०–आप हिंदू किसको समझते हैं ?

उ०–जो अपनेको हिंदू मानता हो, वही हिंदू है।

प्र०–हिंदू शब्दका क्या अभिप्राय है ?

उ०–हिंदुस्तान (आर्यावर्त)में जन्म होना और किसी हिंदुस्तानी आचार्यके चलाये हुए मतको मानना।

प्र०–सनातनी, आर्य, सिख, जैन, बौद्ध और ब्राह्म आदि भिन्न-भिन्न मतको माननेवाली तथा भारतकी जंगली जातियाँ क्या सभी हिंदू हैं ?

उ०–यदि वे अपनेको हिन्दू मानती हों तो अवश्य हिन्दू हैं।

प्र०–क्या सभी हिन्दुओंद्वारा चलाये हुए मत हिन्दू-धर्म माने जा सकते हैं ?

उ०–अवश्य।

प्र०–आप इन सब मतोंमें सबसे प्रधान और श्रेयस्कर किस मतको मानते हैं ?

उ०—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मनका निग्रह, इन्द्रियदमन, तितिक्षा, श्रद्धा, क्षमा, वीरता, दया, तेज, सरलता, स्वार्थत्याग, अमानित्व, दम्भहीनता, अपैशुनता, निष्कपटता, विनय, धृति, सेवा, सत्सङ्ग, जप, ध्यान, निर्वैरता, निर्भयता, समता, निरहंकारता, मैत्री, दान, कर्तव्यपरायणता और शान्ति—इन चालीस गुणोंमेंसे जिस मतमें जितने अधिक गुण हों वही मत सबसे प्रधान और श्रेयस्कर माना जाने योग्य है ।

प्र०—इन चालीसोंकी सक्षेपमें व्याख्या कर दे तो बड़ी कृपा हो !

उ०—अच्छी वात है, सुनिये ।

(१) अहिंसा—मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना ।

(२) सत्य—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया गया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोमें कहना ।

(३) अस्तेय—किसी प्रकार भी चोरी न करना ।

(४) ब्रह्मचर्य—आठ प्रकारके मैथुनोका त्याग करना ।

(५) अपरिग्रह—ममत्वबुद्धिसे संग्रह न करना ।

(६) शौच—वाहर और भीतरकी पवित्रता ।

(७) सन्तोष—तृष्णाका सर्वथा अभाव ।

(८) तप—स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन ।

(९) स्वाध्याय—पारमार्थिक ग्रन्थोंका अध्ययन और भगवान्‌के नाम तथा गुणोंका कीर्तन ।

(१०) ईश्वरभक्ति---भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होना ।
(११) ज्ञान ---सत् और असत् पदार्थका यथार्थ जानना ।
(१२) वैराग्य–इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव ।
(१३) मनका निग्रह–मनका वशमें होना ।
(१४) इन्द्रियदमन–समस्त इन्द्रियोंका वशमें होना ।
(१५) तितिक्षा–शीत, उष्ण और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सहनशीलता ।
(१६) श्रद्धा–वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षकी तरह विश्वास ।
(१७) क्षमा–अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना ।
(१८) वीरता–कायरताका सर्वथा अभाव ।
(१९) दया–किसी भी प्राणीको दुखी देखकर हृदयका पिघल जाना ।
(२०) तेज–श्रेष्ठ पुरुषोंकी वह शक्ति कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे हटकर श्रेष्ठ कर्मोंमे लग जाते हैं ।
(२१) सरलता–शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणकी सरलता ।
(२२) स्वार्थत्याग–किसी कार्यसे इस लोक या परलोकके किसी भी स्वार्थको न चाहना ।
(२३) अमानित्व–सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना ।
(२४) दम्भहीनता–धर्मध्वजीपन अर्थात् ढोंगका न होना ।
(२५) अपैशुनता–किसीकी निन्दा या चुगली न करना ।

(२६) **निष्कपटता**—अपने स्वार्थ-साधनके लिये किसी बातका भी छिपाव न करना ।

(२७) **विनय**—नम्रताका भाव ।

(२८) **धृति**—भारी विपत्ति आनेपर भी चलायमान न होना ।

(२९) **सेवा**—(सब भूतोंके हितमें रत रहना) समस्त जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी, शरीरद्वारा निरन्तर निःस्वार्थ-भावसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना ।

(३०) **सत्सङ्ग**—सत-महात्मा पुरुषोंका सङ्ग करना ।

(३१) **जप**—अपने इष्टदेवके नाम या मन्त्रका जप करना ।

(३२) **ध्यान**—अपने इष्टदेव का चिन्तन करना ।

(३३) **निर्वैरता**—अपने साथ वैर रखनेवालोमेभी द्वेष-भाव न होना ।

(३४) **निर्भयता**—भयका सर्वथा अभाव ।

(३५) **समता**—मस्तक, पैर आदि अपने अङ्गोंकी तरह सबके साथ वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य वर्तावमे भेद रखनेपर भी आत्मरूपसे सबको समभावसे देखना ।

(३६) **निरहंकारता**—मन, बुद्धि, शरीरादिमें 'मैं' पनका और उनसे होनेवाले कर्मोमे कर्तापनका सर्वथा अभाव ।

(३७) **मैत्री**—प्राणीमात्रके साथ प्रेमभाव ।

(३८) **दान**—जिस देशमें, जिस कालमे जिसको जिस वस्तुका अभाव हो उसको वह वस्तु प्रत्युपकार और फलकी इच्छा न रखकर हर्ष और सत्कारके साथ प्रदान करना ।

(३९) **कर्तव्यपरायणता**—अपने कर्तव्यमे तत्पर रहना ।

(४०) शान्ति—इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्त:करणमें निरन्तर प्रसन्नताका रहना ।

प्र०—आप वर्णाश्रम-धर्मको मानते है या नही ?

उ०—मानता हूँ और उसका पालन करना अच्छा समझता हूँ ।

प्र०—जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन नही करते उनको क्या आप हिंदू नही मानते ?

उ०—जब वे अपनेको हिंदू मानते है तब उन्हें हिन्दू न माननेका मेरा क्या अधिकार है ? परन्तु वर्णाश्रम-धर्म न माननेवालों-की शास्त्रोमे निन्दाकी गयी है । अतएव वर्णाश्रम-धर्मको अवश्य मानना चाहिये ।

प्र०—आप वर्ण जन्मसे मानते हैं या कर्मसे ?

उ०—जन्म और कर्म दोनोसे ।

प्र०—इन दोनोमे आप प्रधान किसको मानते हैं ?

उ०—अपने-अपने स्थानमें दोनो ही प्रधान हैं ।

प्र०—वर्ण कितने है ?

उ०—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण है ।

प्र०—ब्राह्मणके क्या कर्म हैं ?

उ०—

शमो दमस्तप शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

(गीता १८ । ४२)

'अन्त:करणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव, मन, इन्द्रियों और

शरीरकी सरलता, आस्तिकबुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्म-तत्त्वका अनुभव भी ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म है यानी धर्म हैं।'

इनके अतिरिक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, विद्या पढ़ना, विद्या पढ़ाना—ये कर्तव्यकर्म है। इनमें यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ाना—ये तीन तो सामान्य धर्म हैं; यज्ञ करना, दान लेना और विद्या पढ़ाना—ये जीविकाके विशेष धर्म है।

प्र०—ब्राह्मणकी जीविकाके सर्वोत्तम धर्म क्या हैं ?

उ०—किसानके अनाज घर ले जानेके बाद खेतमें और अनाजके क्रय-विक्रयके स्थानमें जमीनपर बिखरे हुए दानोको बटोरकर उनसे शरीर-निर्वाह करना सर्वोत्तम है। इसीको ऋत और सत् कहा है। परन्तु यह प्रणाली नष्ट हो जानेके कारण इस जमानेमे इस प्रकार निर्वाह होना असम्भव-सा है। अतएव साधारण जीविकाके अनुसार ही निर्वाह करना चाहिये।

प्र०—साधारण जीविकामें कौन उत्तम है ?

उ०—बिना याचना किये जो अपने आपसे प्राप्त होता है वह पदार्थ सबसे उत्तम है, उसीको अमृत कहते हैं। नियत वेतनपर विद्या पढ़ाना और माँगकर दक्षिणा या दान लेना निन्द्य है। इनमें माँगकर दान लेनेको तो विषके सदृश कहा है।

प्र०—इस वृत्तिसे निर्वाह न हो तो ब्राह्मणको क्या करना चाहिये ?

उ०—क्षत्रियकी वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी काम न चले तो वैश्य-वृत्तिसे जीविका चलावे। परन्तु दास-वृत्तिका अवलम्बन आपत्तिकालमे भी न करे।

प्र०—क्षत्रियके क्या कर्म हैं ?

उ०—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

(गीता १८ । ४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागनेका स्वभाव एव दान और स्वामीभाव–ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ।'

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥

(मनुस्मृति १ । ८९)

'प्रजाकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढना और विषयोमे न लगना–संक्षेपसे ये क्षत्रियके कर्म हैं ।'

इन्हींमेंसे प्रजाका पालन करना, सैनिक बनना, न्याय करना, कर लेना और शास्त्रोंद्वारा दूसरोकी रक्षा करना इत्यादि जीविकाके कर्म हैं । दान देना,यज्ञ करना और विद्या पढना–ये सामान्य धर्म है ।

प्र०–इन कर्मोंसे क्षत्रियकी जीविका न चले तो उसे क्या करना चाहिये ।

उ०–वैश्य-वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी न चले तो शूद्र-वृत्तिसे काम चलावे ।

प्र०—वैश्यके क्या कर्म है ?

उ०–

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥

(मनुस्मृति १ । ९०)

'पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, ब्याज और खेती—ये वैश्यके कर्म हैं।'

पशुपालन, कृषि तथा सत् और पवित्र व्यापार—ये स्वाभाविक और जीविकाके भी कर्म हैं। ब्याज भी जीविकाका है परन्तु केवल ब्याज उपजाना निन्द्य है। यज्ञ, दान और अध्ययन सामान्य धर्म हैं।

प्र०—सत् और पवित्र व्यापार किसे कहते हैं ?

उ०—दूसरेके हकपर नीयत न रखते हुए झूठ-कपटको छोड़कर न्यायपूर्वक पवित्र वस्तुओंका क्रय-विक्रय करना सत् और पवित्र व्यापार है।*

प्र०—इनसे जीविका न चले तो वैश्यको क्या करना चाहिये ?

उ०—शूद्रवृत्तिसे काम चलावे, परन्तु अपवित्र वस्तुओंका और सट्टे-का व्यापार कभी न करना चाहिये।

प्र०—कृपाकर अपवित्र वस्तुओंकी व्याख्या कीजिये।

उ०—मद्य, मांस, हड्डी, चमड़ा, सींग, लाह, चपड़ा, नील इत्यादि शास्त्रवर्जित घृणित पदार्थ अपवित्र हैं।

प्र०—शूद्रके क्या कर्म हैं ?

---

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है उसका नाम सत्य व्यवहार है।

उ०–सेवा और कारीगरीके काम ही इनके स्वाभाविक और आजीविकाके कर्म हैं ।

प्र०–तो फिर जिन अपवित्र और घृणित पदार्थोंका व्यापार वैश्योंको नहीं करना चाहिये, उनका व्यापार करनेके अधिकारी कौन लोग हैं ?

उ०–मोची, चमार, चाण्डाल और मेहतर आदि पतित शूद्रोंको जिन्हें अछूत माना जाता है, उपर्युक्त वस्तुओंके संग्रह करनेका तथा उन्हें कार्योपयोगी बनाकर जन-समुदायकी सेवामें न्यायपूर्वक उचित मूल्यपर वितरण करनेका अधिकार है । परन्तु यदि वे इस कार्यको स्वधर्म मानकर धर्मपालनके लिये करना चाहें, तो इस बातका विशेषरूपसे ध्यान रक्खें कि प्राणियोंके शरीरसे निकलनेवाले मांस, हड्डी और चमड़ा आदि पदार्थ अपनी स्वाभाविक मृत्युसे मरे हुए प्राणियोंके ही शरीरके हों । उक्त पदार्थोंके लिये किसी भी प्राणीकी हिंसा कदापि न की जाय । साथ ही उन्हे इस बातका भी खयाल रखना चाहिये कि वे वस्तुएँ यथावश्यक व्यक्तिके काममे लगे तथा कही भी सत्यता और न्यायका त्याग न हो । सद्व्यापारके लिये जो-जो बात टिप्पणीमें लिखी गयी हैं, उनमेंसे पवित्रताके सिवा और सभी बाते उपर्युक्त वस्तुओंके व्यापारमे भी रहनी चाहिये ।

प्र०–सट्टेका व्यापार किसको समझना चाहिये ?

उ०–वर्षा, भूकम्प या अन्य किसी प्रकारकी दैवी घटनाके भविष्य परिणामको निमित्त बनाकर जो होड़ लगायी जाती है

(हार-जीतकी कल्पनाकी जाती है) वह तो प्रत्यक्ष ही जुआ है। इसके सिवा जो माल वास्तवमें न तो डिलीवर लिया जाता है और न दिया ही जाता है, समयपर भाव करके केवल घाटे-नफेका भुगतान होता है, किसीको उसके खरीदने-वेचनेमें रुपया नहीं लगाना पड़ता; ऐसा व्यापार सट्टा कहलाता है। इसी प्रकार जिसके पास जिस वस्तुको उत्पन्न करनेका न तो साधन है और न किसी उत्पन्न करनेवाले कारखाने या खानसे ही वह ,वस्तु उसकी खरीदी हुई है, ऐसा व्यापारी यदि साहस करके उस वस्तुको माथे धरकर वेचता है, तो उसकी वह खरीद-विक्री भी सट्टा ही है। इसी तरह किसी वस्तुके समयपर निश्चित होनेवाले भावोंके सम्बन्धमे मन्दी-तेजीकी शर्तपर होड़ लगाना भी जुआ है, इसको भी सट्टा ही समझना चाहिये। हाँ जो वस्तु किसी ऐसे कारखाने या किसानसे खरीदी जाती है जिसके पास वह वस्तु किसी निश्चित समयपर तैयार या उत्पन्न होने-वाली रहती है तथा खरीदनेवालेको भी वह वस्तु अपने किसी कार्य या व्यापारके लिये उस समय आवश्यक होती है, तो उसका खरीदना अनुचित नहीं है; वैसी वस्तुके लिये यदि समयपर निश्चित मूल्य देकर उसे ठीक डिलीवर देनेके उद्देश्य से ही खरीदा जाय तो वह आमदनी या सौदा सट्टेके अन्तर्गत नहीं, वह एक प्रकारका व्यापार ही है।

धर्म और उसका प्रचार

इस समय ससारकी प्राय: सभी जातियाँ न्यूनाधिकरूपसे अपने-अपने धर्मकी उन्नति और उसके प्रचारके लिये अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार प्रयत्न कर रही है। इनमेंसे कुछ लोग तो अपने धर्मभावोंका सन्देश संसारके कोने-कोनेमे पहुँचा देना चाहते हैं और वे इसके लिये कोई काम भी उठा नही रखते। क्रिश्चियन मतका प्रचार करनेके लिये ईसाई-जगत् कितनी धनराशिको पानी-की तरह बहा रहा है। अमेरिकातकसे करोड़ो रुपये इस कार्यके लिये भारतवर्षमें आते हैं। लाखों ईसाई स्त्री-पुरुष सुदूर देशोमे जा-जाकर भाँति-भाँतिसे लोकसेवाकर तथा लोगोंको अनेक तरहसे लोभ-लालच देकर फुसलाकर और उन्हे उल्टी-सीधी बात समझाकर अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं।

कुछ भूले हुए लोग परधन, परस्त्री, अपहरण करने, धर्मके नाम-पर हिंसा करने और परधर्मीकी हत्या करनेको ही धर्म मान बैठे हैं और उसीका प्रचार करना चाहते हैं। इसी प्रकारसे धर्मप्रचारसे चारों ओर अशान्ति और दु:खका विस्तार होता है। अपनी बुद्धिसे लोक-कल्याणके लिये जिस धर्मको अधिक उपयोगी समझा जाय, उसके प्रचारके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। इस न्यायसे

कोई भाई यदि वास्तवमें ऐसे ही शुद्ध भावसे प्रेरित होकर केवल लोक-कल्याणके लिये ही अपने धर्मका प्रचार करना चाहते हैं तो उनका यह कार्य अनुचित नहीं है, परन्तु उनके इस कार्यको देखकर हमलोगोंको क्या करना चाहिये यह विषय विचारणीय है। मेरी समझमें एक हिंदू-धर्म ही सब प्रकारसे पूर्ण धर्म है, जिसका चरम लक्ष्य मनुष्यको ससारसे त्रितापानलसे मुक्त कर उसे अनन्त सुखकी शेष सीमातक पहुँचाकर सदाके लिये आनन्दमय वना देना है। इसी धर्मका पवित्र सन्देश प्राप्त कर समय-समयपर जगत्के दुःखदग्ध अशान्त प्राणी परम शान्तिको प्राप्त हो चुके हैं और आज भी जगत्के बड़े-बड़े भावुक पुरुष अत्यन्त उत्सुकताके साथ इसी सन्देशकी प्राप्तिके लिये लालायित है। जिस धर्मकी इतनी अपार महिमा है उसी अनादि कालसे प्रचलित पवित्र और गम्भीर-आशय धर्मको माननेवाली जाति मोहवश जगत्के अन्यान्य अपूर्ण मतोंका आश्रय ग्रहणकर अज्ञान-सरिताके प्रवाहमें बहना चाहती है, यह बड़े ही दुःखकी वात है!

यदि भारतने अपने चिरकालीन धर्मके पावन आदर्शको भूल-कर ऐहिक सुखोंकी व्यर्थ कल्पनाओके पीछे उन्मत्त हो केवल काल्पनिक भौतिक, स्वर्गादि सुखोंको ही धर्मका ध्येय माननेवाले मतोका अनुसरण आरम्भ कर दिया तो बड़े ही अनर्थकी सम्भावना है। इस अनर्थका सूत्रपात भी हो चला है। समय-समयपर इसके अनेक उदाहरण मिलते है। लोग प्रायः परमानन्द-प्राप्तिके ध्येयसे च्युत होकर केवल विविध प्रकारके भोगोकी प्राप्तिके प्रयत्नको ही अपना कर्तव्य समझने लगे है। धर्मक्षयका यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम

देखकर भी यदि धर्मप्रेमी बन्धु धर्मनाशसे उत्पन्न होनेवाली भयानक विपत्तियोसे जातिको बचानेकी सन्तोषजनक रूपसे चेष्टा नहीं करते, यह बड़े ही परितापका विषय है !

इस समय हमारे देशमे अधिकाश लोग तो केवल धन, नाम और कीर्ति कमानेमें ही अपने दुर्लभ और अमूल्य जीवनको बिता रहे हैं। कुछ सज्जन स्वराज्य और सुधारके कार्योंमें लगे हैं, परन्तु उस सत्य धर्मके प्रचारक तो कोई विरले महात्माजन है। यद्यपि मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी कामना एवं स्वार्थपरताका परित्याग कर स्वराज्य और समाज-सुधारके लिये प्रयत्न करनेसे भी सच्चे सुखकी प्राप्तिमें कुछ लाभ पहुँचता है, परन्तु भौतिक सुखोंकी चेष्टा वास्तवमे परम ध्येय को भुला ही देती है। सच्चे सुखकी प्राप्तिमें पूरी सहायता तो उस शान्तिप्रद सत्य धर्मके प्रचारसे ही मिल सकती है।

यद्यपि मुझे संसारके मत-मतान्तरोंका बहुत ही कम ज्ञान है, परन्तु साधारणरूपसे मेरा यह विश्वास है कि सबसे उत्तम सार्वभौम धर्म वह हो सकता है, जिसका लक्ष्य महान्-से-महान्, नित्य और निर्बाध आनन्दकी प्राप्ति हो और जिसमे सबका अधिकार हो। केवल ऐहिक सुख या स्वर्गसुख बतलानेवाला धर्म भी वास्तवमें बुद्धिमान्के लिये त्याज्य ही है। अतएव सर्वोत्तम धर्म वह है जो परम कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला होता है। ऐसा धर्म मेरी समझसे वह वैदिक सनातन धर्म ही है जिसका स्वरूप निम्नलिखितरूपमे शास्त्रोमें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ॥
भवन्ति संपद दैवीमभिजातस्य भारत ।

(गीता १६ । १-३)

'सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ स्थिति*, सात्त्विक दान † इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियों सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण††, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमे कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी

---

* परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमे एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ स्थितिका ही नाम 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' समझना चाहिये ।

† गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित गीता अध्याय १७ श्लोक २० का अर्थ देखिये ।

†† अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमे कहनेका नाम सत्यभाषण है ।

चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमे लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज* क्षमा, धैर्य, शौच अर्थात् बाहर और भीतरकी शुद्धि†, किसीमें भी शत्रु-भावका न होना, अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव--हे अर्जुन ! दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण (ये) हैं।'

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ९२)

धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका न करना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोधका न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योग० २ । ३०)

'अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन और भोग-सामग्रियोंका संग्रह न करना—ये पांच प्रकारके यम हैं।'

---

*श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर श्रेष्ठ कर्मोंमे प्रवृत्त हो जाते हैं।

†सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य वर्तावसे आचरणोंका और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा राग-द्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कही जाती है।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(योग २ । ३२)

'बाहर-भीतरकी पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करना—ये पाँच प्रकारके नियम हैं ।' सबका निष्कामभावसे पालन करना ही सच्चा धर्माचरण है ।

यही धर्मके सर्वोत्तम लक्षण हैं, इन्हीसे परमपदकी प्राप्ति होती है अतएव जो सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्रकी सेवा करना चाहते है उन्हें उचित है कि वे उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मको ही उन्नति का परम साधन समझकर स्वयं उसका आचरण करें और अपने दृष्टान्त तथा युक्तियोकेद्वारा इस धर्मका महत्त्व बतलाकर मनुष्य-मात्रके हृदयमें इसके आचरणकी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न कर दे । वास्तवमें यही सच्चा धर्म प्रचार है और इसीसे लौकिक अभ्युदयके साथ-ही-साथ देश-कालकी अवधिसे अतीत मुक्तिरूप परम कल्याण-की प्राप्ति हो सकती है । इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष दुःखरूप संसारसागरमें पुन. लौटकर नहीं आता । ऐसे ही पुरुषोंके लिये श्रुति पुकारती है –

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।

(छान्दोग्य० ८ । १५ । १)

इस परम आनन्दका नित्य और मधुर आस्वाद मनुष्यमात्रको चखानेके लिये वैदिक सनातनधर्मका प्रचार करनेकी चेष्टा मनुष्य-मात्रको विशेषरूपसे करनी चाहिये ।

कुछ सज्जनोंका मत है कि स्वराज्य और विपुल धनराशिके अभावसे धर्मप्रचार नहीं हो सकता; परन्तु मेरी समझसे उनका यह

मत सर्वथा ठीक नहीं है। राजनैतिक अधिकारोंकीप्राप्तिसे धर्म-प्रचार-में सहायता मिल सकती है, परन्तु यह बात नही कि स्वराज्यके अभावमें धर्मका प्रचार हो ही नहीं सकता। धर्मपालनसे बड़े-से-बड़ा आत्मिक स्वराज्य मिल सकता है, तब इस साधारण स्वाराज्यकी तो बात ही कौन-सी है। वह तो अनायास ही प्राप्त हो सकता है।

धनकी भी धर्मके प्रचारमे आवश्यकता नही, सम्भव है कि इससे आंशिकरूपसे कुछ सहायता मिल जाय। इसमें प्रधान आवश्यकता सच्चे त्यागी और धर्मज्ञ प्रचारकोंकी है। ऐसे पुरुष मान, बड़ाई, प्रसिद्धि और स्वार्थको त्यागकर प्राणपणसेधर्म-प्रचारके लिये कटिबद्ध हो जायं तो उन्हें द्रव्यादि वस्तुओंकी तो कोई त्रुटि रह ही नही सकती; परन्तु वे अपने प्रतिपक्षियोपर भी प्रेमसे विजय प्राप्तकर उन्हें अपना मित्र बना ले सकते है। केवल संख्यावृद्धिके लिये ही लोभ-लालच देकर या फुसला-धमकाकर किसीका धर्म-परिवर्तन करना वास्तवमे धर्म-प्रचारसे प्रचारकोंको ही विशेष लाभ होता है। जब मनुष्य धर्मके महत्त्वको स्वयं भलीभांति समझकर उसका पालन करता है तभी उसे उससे आनन्द और शान्ति मिलती है और इस प्रकार अपूर्व आनन्द और परम शान्ति अनुभव करके ही मनुष्य संसृतिमें फंसे हुए अशान्त, दुखी जीवोंकी दयनीय स्थितिको देखकर करुणार्द्र-चित्तसे उन्हें शान्त और सुखी बनानेके लिये प्रयत्न करते है, यही सच्चा धर्म प्रचार है।

बड़े खेदकी बात है कि इस अपार आनन्दके प्रत्यक्ष सागरके होते हुए भी लोग दु.खरूप ससार-सागरमे मग्न हुए भीषण सन्तापको प्राप्त हो रहे हैं। मृगतृष्णासे परिश्रान्त और व्याकुल मृग-समूह जैसे

गङ्गाके तीरपर भी प्यासके मारे छटपटाकर मर जाते हैं वही दशा इस समय हमारे इन भाइयोंकी हो रही है।

सत्य धर्मके पालनसे होनेवाली अपार आनन्दकी स्थितिको न समझनेके कारण ही मनुष्योंकी यह दशा हो रही है। अतएव ऐसे लोगोंको दयनीय समझकर उन्हें वैदिक सनातनधर्मका तत्त्व समझाने की चेष्टा करनेमें उनका उपकार और सच्चा सुधार है। इस धर्मको बतलानेवाले हमारे यहाँ अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिन सबका मनन और अनुशीलन करना कोई सहज बात नहीं। अतएव किसी एक ऐसे ग्रन्थका अवलम्बन करना उत्तम है जो सरलताके साथ मनुष्यको इस पावन पथपर ला सकता हैं। मेरी समझसे ऐसा पावन ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। बहुत थोड़ेसे सरल शब्दोंमें कठिन-से कठिन सिद्धान्तोंको समझानेवाला, सब प्रकारके अधिकारियोंको उनके अधिकारानुसार उपयोगी मार्ग बतलानेवाला, सच्चे धर्मका पथप्रदर्शक, पक्षपात और स्वार्थसे रहित उपदेशोके अपूर्व संग्रहका यह एक ही सार्वभौम महान् ग्रन्थ है। जगत्के अधिकांश महानुभावोने मुक्तकण्ठसे इस बातको स्वीकार किया है। गीतामे सैकड़ों ऐसे श्लोक है* जिनमेंसे एकको भी पूर्णतया धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, फिर सम्पूर्ण गीताकी तो बात ही क्या है।

अतः जिन पुरुषोंको धर्मके विस्तृत ग्रन्थोंको देखनेका पूरा समय नही मिलता है उनको चाहिये कि वे गीताका अर्थसहित अध्ययन अवश्य ही करें और उनके उपदेशोंको पालन करनेमें तत्पर

* जैसे गीता अ० २। ७१; ३। ३०; ४। ३४, ५। २९, ६। ४७, ७। १४; ८। १४; ९। ३२, १०। ९, १०, ११। ५४,५५, १२। ८; १३। १०; १४। १९,२६; १५। १९, १६। १; १७। १६, १८। ६५, ६६ इत्यादि।

हो जायँ। मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और गीता मुक्ति-मार्ग बतलानेवाला एक प्रधान ग्रन्थ है; इसलिये परमेश्वरमें भक्ति और श्रद्धा रखने वाले सभी आस्तिक मनुष्योंका इसमें अधिकार है। गीता-प्रचारके लिये भगवान्‌ने किसी देश, काल, जाति और व्यक्तिविशेषके लिये रुकावट नही की है, वरं अपने भक्तोंमे गीताका प्रचार करनेवालोंको सबसे बढ़कर अपना प्रेमी बतलाया है।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

(गीता १८ । ६८)

'जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमे कहेगा, अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा वह निःसन्देह मेरेको प्राप्त होगा।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

(गीता १८ । ६९)

'और न तो उससे बढकर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथिवीमे दूसरा कोई होवेगा।'

अतएव सभी देशोंकी सभी जातियोंमें गीता-शास्त्रका प्रचार बड़े जोरके साथ करना चाहिये। केवल एक गीताके प्रचारसे ही पृथ्वीके मनुष्यमात्रका उद्धार हो सकता है। इसलिये इसी गीता-धर्मके प्रचारमे सबको यत्नवान् होना चाहिये। इससे सबको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। यही एक सरल, सहज और मुख्य उपाय है।

व्यापारसुधारकी आवश्यकता

भारतवर्षके व्यापार और व्यापारियोंकी आज बहुत बुरी दशा है। व्यापारकी दुरवस्थामें विदेशी शासन भी एक बड़ा कारण है; परन्तु प्रधान कारण व्यापारी-समुदायका नैतिक पतन है। व्यापारकी उन्नतिके असली रहस्यको भूलकर लोगोने व्यापारमें झूठ, कपट, छलको स्थान देकर उसे वहुत ही घृणित वना डाला है। लोभकी अत्यन्त बढ़ी हुई प्रवृत्तिने किसी भी तरह धन कमानेकी चेष्टाको ही व्यापारके नामसे स्वीकार कर लिया है। बहुत-से भाई तो व्यापारमें झूठ, कपटका रहना आवश्यक और स्वाभाविक मानने लगे हैं और वे ऐसा भी कहते हैं कि व्यापारमें झूठ, कपट बिना काम नही चलता। परन्तु वास्तवमें यह बड़ा भारी भ्रम है। झूठ, कपटसे व्यापारमे आर्थिक लाभ होना तो बहुत दूरकी वात है परन्तु उल्टी हानि होती है। धर्मकी हानि तो स्पष्ट ही है। आजकल व्यापारी जगतमें अङ्गरेज जातिका विश्वास औरोंकी अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ है। व्यापारी लोग अङ्गरेजोंके साथ व्यापार करनेमें उतना डर नही मानते जितना उन्हें अपने भाइयोंके साथ करनेमें लगता है। यह देखा गया है कि गल्ला, तिलहन वगैरह अङ्गरेजोंको दो आना नीचे भावमें भी लोग वेच देते है। आमदनी मालके लेन-देनका सौदा करनेमे भी पहले अङ्गरेजोंको देखते हैं, इसका कारण यही है कि उनमे सच्चाई अधिक है। इसीसे उनपर लोगोंका विश्वास अधिक है। इस कथनका यह अभिप्राय नही है कि अङ्गरेज सभी सच्चे और भारतवासीमात्र सच्चे नही है। यहाँ मतलब यह है कि व्यापारी कार्योमे हमारी अपेक्षा उनमें

सत्यका व्यवहार कहीं अधिक है। वह भी किसी धर्मके खयालसे नही किंतु व्यापारमें उन्नति होने और झूठे झंझटोंसे बचनेके खयालसे है।

सच्चाईके व्यवहारके कारण जिन अङ्गरेज और भारतीय फार्मोंपर लोगों का विश्वास है, उनका माल कुछ ऊँचे दाम देकर भी लोग लेनेमें नहीं हिचकते। बराबरके भावमें तो खुशामद करके उनके साथ काम करना चाहते है।

व्यापारमे प्रधानतः क्रय विक्रय होता है, क्रय-विक्रयके कई साधन है, कोई चीज तौलपर ली-दी जाती है, कोई नापपर, तो कोई गिनतीपर। नमूना देखना-दिखाना भी एक साधन होता है। जो दूसरेके लिये या दूसरोंका माल खरीदते-बेचते है वे आढ़तिया कहलाते है और जो दूसरोसे दूसरोंको ठीक भावमे किसीका पक्ष न कर उचित दलालीपर माल दिला देते है वे दलाल कहलाते है। इन्ही सब तरीकोसे व्यापार होता है। वस्तुओंके खरीदने-बेचने, तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना या अधिक लेना, चीज बदलकर या एक वस्तुमे दूसरी (खराब) चीज मिलाकर दे देना या धोखा देकर अच्छी ले लेना, नमूना दिखाकर उसको घटिया चीज देना और धोखेसे बढ़िया लेना, नफा, आढ़त, दलाली ठहराकर उससे अधिक लेना या धोखेसे कम देना, दलाली या आढ़तके लिये झूठी बाते समझा देना अथवा झूठ, कपट, चोरी, जबरदस्ती या अन्य किसी प्रकारसे दूसरेका हक मार लेना, ये सब व्यापारके दोष हैं। आजकल व्यापारमे ये दोष बहुत ज्यादा आ गये हैं। किसी भी दोषका कोई भी खयाल न कर किसी तरह भी धन पैदा कर लेनेवाला ही आजकल समझदार और चतुर समझा जाता है। समाजमें

उसीकी प्रतिष्ठा होती है। धनकी कमाईके सामने उसकी सारी चोरियाँ घरवाले और समाज सह लेता है। इसीसे चोरी और झूठ-कपटकी प्रवृत्ति दिनोदिन बढ रही है। व्यापारमें झूठ, कपट नहीं करना चाहिये या इसके बिना किये भी धन पैदा हो सकता है ऐसी धारणा ही प्रायः लोप हो चली है। इसीसे जिस तरफ देखा जाता है उसी तरफ पोल नजर आती है।

अधिकांश भारतीय मिलोके साथ काम करनेमे व्यापारियोको यह डर बना ही रहता है कि तेज वाजारमे हमे या तो नमूनेके अनुसार क्वालिटीका माल नही मिलेगा या ठीक समयपर नही मिलेगा। कपड़े-की मिलोमे जिस तरहकी कार्यवाहियाँ होती सुनी हे वे यदि वास्तवमे सत्य है तो हमारे व्यापारमे बड़ा धक्का पहुँचानेवाली है। रूई खरीदने मे मैंनेजिङ्ग एजेट लोग वड़ी गड़वड़ किया करते है।

रूईके वाजारमे घट-वढ़ वहुत रहती है। रूईका सौदा करनेपर भाव बढ़ जाता है तो एजेट रूई अपने खाते रख लेते है और यदि भाव घट जाता है तो अपने लिये अलग खरीदी हुई रूई भी मौका लगनेपर मिल-खाते नोध देते है। वजन वढ़ानेके लिये कपड़ोंमें माड़ी लगानेमे तो अहमदावाद मशहूर है। रूईका भाव वढ़ जानेपर सूतमें भी कमी कर दी जाती है। अनेक तरहके वहाने वताकर कंट्राक्टका माल भी समयपर नही दिया जाता। प्रायः लंवाई-चौड़ाईमे भी गोलमाल कर दी जाती है। सूतमे वजन भी कम दे दिया जाता है, इन्ही कारणोंसे वहुत-सी मिलोकी साख नही जमती। पक्षान्तरमे विलायती वस्त्र-व्यवसाय भारतके लिये महान् घातक होनेपर भी कंट्राक्टोकी शर्तोंके पालनमें अधिक उदारता और सच्चाई रहनेके

कारण बहुत-से व्यापारी उस कामको छोड़ना नहीं चाहते । यहाँके मालके दाम ज्यादा रहनेका एक कारण अत्यधिक लोभकी मात्रा ही है।

अनाज आदि खानेकी चीजोंमें दूसरे घटिया अनाज मिलाये जाते हैं–मिट्टी मिलायी जाती है । जीरा, धनिया आदि किरानेकी और सरसों, तिल आदि तिलहन चीजोंमें भी दूसरी चीज या मिट्टी मिलायी जाती है । किसान तो मामूली मिट्टी मिलाते हैं; परंतु व्यापारी लोग भी उसी रंगकी मिट्टी खरीदकर मिलाया करते हैं । वजन ज्यादा करनेके लिये बरसातमें माल गीली जगहमें रखते हैं जिससे कहीं-कहीं माल सड़ जाता है, खानेवाले चाहे बीमार हो जायँ, पर व्यापारियोंके घरोंमें पैसे अधिक आने चाहिये । गल्ला आदि जहाँ रखा जाता है वहाँ पहलेसे ही घटिया माल तो नीचे या कोनोंमें रखते हैं और बढ़िया माल सामने नमूना दिखानेकी जगह रक्खा जाता है, वजनमें भी बुरा हाल है । लेन-देनके बाट भी दो प्रकारके होते हैं ।

पाटके व्यापारमें भी चोरियोंकी कमी नहीं । वजन बढ़ानेके लिये पानी मिलाया जाता है । मिलोंमें माल पास करानेवाले बाबुओंको कुछ दे-दिलाकर बढ़ियाके कट्राक्टमें घटिया माल दे दिया जाता है । वजनमें चोरी होती ही हैं । इसी तरह रुईमें पानी तथा धूल मिलाई जाती है । पाटकी तरह इनकी गाँठोंके अन्दर भी खराब माल छिपाकर दे दिया जाता है ।

सभी चीजोंमे किसानोंसे माल खरीदते समय दामोंमें, वजनमें घटियाके बदले बढ़िया लेनेमे धोखा देकर लूटनेकी चेष्टा रहती है और बेचते समय ठीक इससे उलटा व्यवहार करनेकी कोशिश होती है ।

खाद्य पदार्थोंमें भी शुद्ध घी, तैल या आटातक मिलना कठिन

हो गया है। ऐसा कोई काम नही जो आजकल व्यापारी लोभवश न करते हों; घीमें चरबी, तैल, विलायती घी आदि मिट्टीका तेल मिलाया जाता है। तेलमें भी बड़ी मिलावट होती है। सरसोंके साथ तीसी, रेड़ी तो मिलाते ही हैं। परन्तु बड़ी-बड़ी मिलोंमें कुसुमके बीज भी मिलाये जाते हैं जिसके तेलसे बदहजमी, हैजा, संग्रहणी आदि बीमारियाँ फैलती हैं। मनुष्य दुःख पाते हैं, मर जाते हैं। परन्तु लोभियोंको इस बातकी कोई परवा नही। इसी तैलकी खली गायोंको खिलायी जाती है, जिससे उनके अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हो जाती है। गोभक्त और गोसेवक कहानेवाले लोगों-की यह गन्दी करतूत है। ऐसी मिलोंमें जब जाँचके लिये सरकारी अफसर आते हैं तो उन्हें धोखा देकर या उनकी कुछ भेंट-पूजा करके पिण्ड छुड़ा लिया जाता है। साइनबोर्डोंपर 'जलानेका तैल' लिखकर भी दण्डसे बचनेकी चेष्टाकी जाती है।

नारियल, तिल सरसों आदिके तैलोंमें कई तरहके विलायती किरासिन तैल मिलाये जाते हैं जो पेटमें जाकर भाँति-भाँतिकी बीमारियाँ पैदा करते है।

आजकल देशमे जो अधिक बीमारी फैल रही है, घर-घरमें रोगी दीख पड़ते हैं—इसका एक प्रधान कारण व्यापारियोंका लोभवश खाद्य पदार्थोंमें अखाद्य चीजोंका मिला देना भी है।

कपड़ेके व्यापारमें भी बड़े-छोटे सभी स्थानोंमें प्रायः चोरी होती है। बम्बई, कलकत्ते आदि बड़े शहरोंके बड़े दूकानदारोंकोबड़ी चोरियाँ होती हैं। देहातके दूकानदार भी किसी तरह कमी नहीं करते। जहाँ अमुक नफेपर माल बेचनेका नियम है, वहाँ ग्राहकोंको ठगनेके लिये

एकझूठा बीजक मँगा लेते हैं। हाथीके दाँत खानेकेऔरदिखानेकेओर।

सूतके देहाती व्यापारी भी सूतके बण्डलोंमेंसे मुट्ठे निकालकर उसे ८ नम्बरसे १६ नम्बरतकका बना लेते हैं। इस बेईमानीके लिये कलकत्तेमें कई कारखाने बने हुए हैं जिनमें खरीदार जुलाहोंको धोखा देनेके लिये गोलमाल की जाती है। दूसरे बंडल बनाकर बेचनेमें जुलाहे ठगे जाते हैं,खर्च बढ़ जाता है और सूत उलझ जाताहै।

कई जगह चीनीके ऐसे कारखाने हैं जिनमें विदेशी चीनीमें गुड़ मिलाकर उसका रंग बदल दिया जाता है और फिर वह बनारसी या देशीके नामसे वेची जाती है।

आढ़त, दलाली, कमीशनमें भी तरह-तरहकी चोरियाँकी जाती हैं। वास्तवमें आढ़तियेको चाहिये कि महाजनके साथ जो आढ़त ठहरा ले उससे एक पैसा भी छिपाकर अधिक लेना हराम समझे। महाजनको विश्वास दिलाया जाता है कि आढ़त ।।।)या ।।) सैकड़ा ली जायगी, परन्तु छल-कपटसे जितना अधिक चढ़ाया जाय उतना ही चढ़ाते हैं। २) ४) ५) सैकड़ेतक वसूल करके भी संतोष नहीं होता। बोरा, वारदाना, मजदूरी आदिके बहानेसे महाजनसे छिपाकर या मालपर अधिक दाम रखकर दलाली या बट्टा वगैरह उसे न देकर, अथवा गुप्तरूपसे अपना माल बाजारसे खरीदा हुआ बताकर तरह-तरहसे महाजनको ठगना चाहते हैं।

कमीशनके काममें भी बड़ी चोरियाँ होती हैं। बाजार मन्दा हो गया तो तेज भावमें बिके हुए मालकी बिक्री मन्देकी दे देते हैं। तेज हो गया तो किसी दूसरेसे मिलकर बिना बिके ही बहुत-सा माल खूद खरीदकर पहलेका बिका बताकर झूठी बिक्री

भेज देते हैं। बँधे भावसे कम-ज्यादा भावसे भी माल वेचते हैं।

दलालीके काममें अपने थोड़े-से लोभके लिये ग्राहकका गला कटा दिया जाता है।' दलालका कर्तव्य है कि वह जिससे जिसको माल दिलवावे उन दोनोंका समान हित सोचे। अपने लोभके लिये दोनोंको उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ाकर लेनेवालेको तेजी और बेचनेवाले-को झूठ ही मन्दीकी रुख बताकर काम करवा देना बड़ा अन्याय है। अपनी जो सच्ची राय हो वही देनी चाहिये। दोनों पक्षोंको अपनी स्पष्ट धारणा और बाजारकी स्थिति सच्ची समझानी चाहिये।

कहाँतक गिनाया जाय! व्यापारके नामपर चोरी, डकैती और ठगी सब कुछ होती है। न ईश्वरपर विश्वास है न प्रारब्धपर और न न्याय तथा सत्यपर ही। वास्तवमें व्यापारमें कुशलता भी नहीं है। कुशल व्यापारी सच्चा होता है, वह दूसरोंको धोखा देनेवाला नहीं होता। सच्चाईसे व्यापारकर वह सबका विश्वासपात्र बन जाता है, जितना विश्वास बढ़ता है उतना ही उसका झन्झट कम होता है और व्यापारमें दिनोदिन उन्नति होती है। मोल-मुलाई करनेवाले दूकानदारोंको ग्राहकोंसे बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती है। विश्वास जम जानेपर सच्चे, एकदाम बतानेवाले दूकानदारोंको माल बेचनेमें कुछ भी कठिनाई नही होती, ग्राहक चाहकर विना दाम पूछे उसका माल खरीदते हैं, उन्हें वहाँ ठगे जानेका भय नही रहता। परन्तु आजकल तो दूकान खोलनेके समय प्रतिदिन लोग प्रायः भगवान्-से प्रार्थना किया करते हैं—'गङ्कर! भेज कोई हियेका अन्धा और गठरीका पूरा,' यानी भगवान् ऐसा ग्राहक भेजें जिसे हम ठग सकें, जो अपनी मूर्खतासे अपने गलेपर हमसे चुपचाप छुरी फिरवा

ले। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई ग्राहक अपनी बुद्धिमानी और सावधानीसे तो भले ही बच जाय, परन्तु दूकानदार तो उसपर हाथ साफ करनेको सब तरह सजा-सजाया तैयार है।

थोड़े-से जीवनके लिये ईश्वरपर अविश्वास करके पाप बटोरना बड़ी मूर्खता है। आमदनी तो उतनी ही होती है, जितनी होनी होती है, पाप जरूर पल्ले बंध जाता है। पापका पैसा ठहरता नहीं, इधर आता है उधर चला जाता है, बट्टाखाता जितना रहना होता है उतना ही रहता है। लोग अपने मनमें ही धन आता हुआ देखकर मोहित हो जाते है। पापसे धन पैदा होनेकी धारणा बड़ी ही भ्रममूलक है। इससे धन तो पैदा होता नहीं; परन्तु आत्माका पतन अवश्य होता है। लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। जो अन्यायसे धन कमाकर उनमेंसे थोड़ा-सा दान देकर धर्मात्मा बनना और कहलाना चाहते हैं वे बड़े भ्रममें हैं। भगवान्‌के यहाँ इतना अन्धेर नही है, वहाँ सबकी सच्ची परख होती है।

अतएव परमात्मापर विश्वास करके व्यापारमें झूठ-कपटको सर्वथा त्याग देना चाहिये। किसी भी चीजमें दूसरी कोई चीज कभी मिलानी नही चाहिये। वजनमें ज्यादा करनेके लिये रुई, पाट गल्ले आदिमें पानी मिलाना या गीली जगहमें रखना नहीं चाहिये। खाद्य पदार्थोंमें मिलावट करके लोगोंके स्वास्थ्य और धर्मको कभी नहीं बिगाड़ना चाहिये। वजन, नाप और गिनतीमें न तो कम देना चाहिये और न ज्यादा लेना चाहिये। नमूनेके अनुसार ही मालका लेन-देन करना अत्यन्त आवश्यक है।

आढ़त ठहराकर किसी भी तरहसे महाजनकी एक पाई ज्यादा

लेना बड़ा पाप है। इससे खूब बचना चाहिये। इसी प्रकार कमी-शनके काममें भी धोखा देकर काम नहीं करना चाहिये। दलालको चाहिये कि वह सच्ची रुख बताकर लेने-बेचनेवालेको भ्रमसे बचा-कर अपने हक और मेहनतका ही पैसा ले।

हम जिसके साथ व्यवहार करें उसके साथ हमें वैसा ही बर्ताव करना चाहिये जैसा हम अपने साथ चाहते हैं। हम जैसा अपने हित और स्वार्थका खयाल रखते हैं उतना ही उसके हित और स्वार्थका भी खयाल रखना चाहिये। सबसे उत्तम तो वह है कि जो अपना स्वार्थ छोड़कर पराया हित सोचता है—दूसरेके स्वार्थके लिये अपने स्वार्थको त्याग देता है। व्यापार करनेवाला होनेपर भी ऐसा पुरुष वास्तवमें साधु ही है।

आजकल सट्टेकी प्रवृत्ति देशमें बहुत बढ़ गयी है। सट्टेसे धन, जीवन और धर्मको कितना धक्का पहुँच रहा है, इस बातपर देशके मनस्वियोंको विचारकर शीघ्र ही इसे रोकनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये। पहले यह सट्टा अधिकतर बम्बईमें ही था और जगह कहीं-कहीं बरसातके समय बादलोंके सौदे हुआ करते थे, परन्तु अब तो इसका विस्तार चारों ओर प्रायः सभी व्यापार क्षेत्रोंमें हो गया है। कुछ वर्षों पूर्व व्यापारी लोग सट्टे-फाटकेसे घृणा करते और सट्टेबाजोंके पास बैठने और उनसे बातें करनेमें हिचकते थे। पर अब ऐसे व्यापारी बहुत ही कम मिलते हैं जो सट्टा न करते हों। सट्टा उसे कहते हैं कि जिसमें प्रायः मालका लेन-देन न हो, सिर्फ समयपर घाटा-नफा दिया-लिया जाय। रुई, पाट, हेसियन, गल्ला, तिलहन, हुण्डी-शेयर और चांदी आदि प्रायः सभी व्यापारी वस्तुओंका सट्टा होता है।

सट्टेबाज न कमानेमें सुखी रहता है न खानेमें, उसका चित्त सदा ही अशान्त रहता है। सट्टेवालोंके खर्च अनाप-शनाप बढ़ जाते हैं। मेहनतकी कमाईसे चित्त उखड़ जाता है। ये लोग पल-पलमें लाखोंके सपने देखा करते हैं। झूठ-कपटको तो सट्टेका साथी ही समझना चाहिये। सट्टेवालोंकी सदियोंकी इज्जत-आबरू घंटोंमें बरबाद हो जाती है। सट्टेके कारण बड़े शहरोंमें प्रतिवर्ष एक-न-एक आत्महत्या या आत्महत्याके प्रयत्न सुननेमें आते हैं। आत्महत्याके विचार तो शायद कई बार कितनोंके ही मनमें उठते होंगे। सट्टेबाजोंको आत्माका सुख मिलना तो बहुत दूरकी बात है, वे बेचारे गृहस्थके सुखसे भी वंचित रहते हैं। कई लोगोंका चित्त तो सट्टेमें इतना तल्लीन रहता हैकि उन्हें भूख, प्यास और नींदतकका पता नहीं रहता। बीमार पड़ जाते हैं, बेचैनीसे कहीं लुढ़क पड़ते है और नीदमें उन्हें प्राय: सपने सट्टेके ही आते हैं। धर्म, देश, माता, पिता आदिकी सेवा तो हो ही कहाँसे, अपने स्त्री-बच्चोंकी भी पूरी सार सम्हाल नहीं होती; घरमें बच्चा बीमारीसे सिसक रहा है, सहधर्मिणी रोगसे व्याकुल है, सट्टेबाज विलायतके तारका पता लगानेके लिये बाड़ोंमें भटक रहे हैं। एक सज्जनने यह आँखोंदेखी दशा वर्णन की थी। खेद है कि इस सट्टेको भी लोग व्यापार के नामसे पुकारते हैं जिसमें न घरका पता है, न संसारका और न शरीरका। मेरी समझसे यदि इतनी तल्लीनता थोड़े समयके लिये भी परमात्मामें हो जाय तो उससे परमार्थके मार्गमें अकथनीय उन्नति हो सकती है। इस सट्टेकी प्रवृत्तिसे मजूरीके काम नष्ट हो रहे हैं। कलाका नाश हो रहा है। इस अवस्थामें यथासाध्य इसका प्रचार रोकना चाहिये।

इस सट्टेके सिवा एक जुआ घुड़दौड़का होता है, जिसमें बड़े-

बड़े धनी-मानी लोग जा-जाकर बड़े चावसे दाँव लगाया करते हैं। मनु महाराजने जीवोंके जुएको सबसे बड़ा पापकारी जुआ बतलाया है। अतएव सट्टा, जुआ सब तरहसे त्याग करनेयोग्य हैं। यदि कोई भाई लोभवश या दोष समझकर भी आत्माकी कमजोरीसे सर्वथा त्याग न कर सके तो कम-से-कम घुड़दौड़में बाजी लगाना तो बिल्कुल ही बंद कर दें और सट्टेमें बिना हुई चीज माथे कर-कर बेचनेका काम कभी न करें। बिना हुए माथे कर-कर बेचनेवालेका माल वास्तवमें किसीको लेना नही चाहिये, इससे बड़ी भारी हानि होती है। जो सट्टेकी हानि समझकर भी उसका त्याग नही करता वह खुद अपनी हिंसाका साधन तो करता ही है पर दूसरोंको भी यथेष्ट नुकसान पहुँचाता है। जो लोग 'खेला' (कार्नर) वगैरह करके मालके दाम बेहद चढ़ा देते हैं वे बड़ा पाप करते है, अतएव खेला करनेवालेमें कभी शामिल नहीं होना चाहिये, उसमें गरीबोंकी आह और उनका बड़ा शाप सहन करना पड़ता है।

कुछ ऐसे व्यापार होते है जिनमें बड़ी हिंसा होती है जैसे लाख, रेशम और चमड़ा आदि।

लाख कीड़ोसे उत्पन्न होती है। वृक्षोंसे लाल गोंद-जैसे टुकड़े उतारे जाते हैं, उनमें दो प्रकारके जीव रहते हैं। एकतो बहुत बारीक रहते हैं जो बरसातमे गरमीसे जहां लाख पड़ी होती है वहाँ निकल-निकलकर दीवारोंपर चढ़ जाते हैं, दीवाल उन कीड़ोसे लाल हो जाती है। दूसरे जीव लंबे कीड़े-जैसे होते हैं, ये लाखके बीज समझे जाते हैं, इन असंख्य जीवोंकी बुरी तरह हिंसा होती है। प्रथम तो लाखके धोनेमें ही असंख्य प्राणी मर जाते हैं फिर थैलियोमें भरकर

जलती हुई भट्ठीमें उसे तपाया जाता है जिससे चपड़ा बनता है, जानवरोंके खूनका लखवटिया बनता है। जिस समय उसको तपाते हैं उस समय उसमें चटाचट शब्द होता है। चारों ओर दुर्गन्ध फैली रहती है, पानी खराब हो जाता है जिससे बीमारियाँ फैलती हैं। इस व्यवहारको करनेवाले अधिकांश वैश्य भाई ही है।*

इसी प्रकार रेशमके बननेमें भी बड़ी हिंसा होती है। रेशम-सहित कीड़े उबलते जलमें डाल दिये जाते है, वे सब बेचारे उसमें झुलस जाते हैं,पीछे उनपर लिपटा हुआ रेशम निकाल लिया जाता है।

चमड़ेके लिये भारतवर्षमें कितनी गो-हत्या होती है यह बतलाना नही होगा। अतएव लाख, रेशम और चमड़ेका व्यापार और व्यवहार प्रत्येक धर्मप्रेमी सज्जनको त्याग देना चाहिये।

कुछ लोग केवल व्याजका पेशा करते हैं। यद्यपि व्याजका पेशा निषिद्ध नही है; परन्तु व्यापारके साथ ही रुपयेका व्यांज उपजाना उत्तम है। व्याजके साथ व्यापार करनेवाला कभी अकर्मण्य नहीं होता, आलसी और नितान्त कृपण भी नहीं होता। उसमें व्यापारकुशलता

---

* वड़े खेदकी वात है कि मारवाड़ी समाजमें इसी लाखकी चूड़ियाँ सोहागका चिह्न समझकर स्त्रियाँ पहनती है, ये चूड़ियाँ मुसल्मान लखारे वनाते हैं। मुँहमाँगे दाम लेते है। जिस लाखमें इतनी हिंसा होती है, जो इतनी अपवित्र है उसकी चूड़ियोका तुरन्त त्याग कर देना चाहिये। इसीलिये इसके वदलेमें काँचकी चूड़ियोके प्रचारकी कोशिश हो रही है, कलकत्तेमे श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय, न० ५१ महात्मागांधीरोडको पत्र लिखनेसे काँच-की सुन्दर सस्ती मजवूत ठीक लाखकी-सी पात लगी हुई चूड़ियाँ मिल सकती हैं। प्रत्येक धर्मप्रेमीको उनके प्रचारमें सहायता करनी चाहिये।—सम्पादक

आती है। लड़के-बच्चे काम सीखते हैं। कर्मण्यता बढ़ती है। अतएव केवल व्याजका ही पेशा नहीं करना चाहिये; परंतु यदि कोई ऐसा न कर सके तो लोभवश गरीबोंको लूटना तो अवश्य छोड़ दे। व्याजके पेशेवाले गरीबोंपर बड़ा अत्याचार किया करते हैं। कम रुपये देकर ज्यादेका दस्तावेज लिखवाते हैं। जरा-जरा-सी बात पर उनको तंग करते हैं। व्याजपर रुपया लेनेवाले लोगोंकी सारी कमाई व्याज भरते-भरते पूरी हो जाती है। कमाई ही नहीं, परंतु स्त्रियोंका जेवर, पशु, धन, जमीन, घर-द्वार सब उस व्याजमें चले जाते हैं। व्याजके पेशेवाले निर्दयतासे उनके जमीन-मकानको नीलाम करवाकर गरीब स्त्री-बच्चोंको राहका कंगाल और निराधार बना देते हैं। लोभसे ये सारे पाप होते हैं। इन पापोंकी अधिक वृद्धि प्राय: केवल व्याजका पेशा करनेवालोंके अत्यधिक लोभसे होती है। अतएव व्याज कमानेवालोंको कम-से-कम लोभसे अन्याय तो नहीं करना चाहिये।

यथासाध्य विदेशी वस्त्र और अन्यान्य विदेशी वस्तुओंके व्यापारका त्याग करना चाहिये।

सबमें पहली और अन्तिम बात यह है कि झूठ, कपट, छलका त्याग कर, दूसरेको किसी प्रकारका नुकसान न पहुँचाकर न्याय और सत्यताके साथ व्यापार करना चाहिये। यह तो व्यापार-शुद्धिकी बात संक्षेपसे कही गयी है। इतना तो अवश्य ही करना चाहिये। परंतु यदि स्वधर्म मानकर निष्कामभावसे व्यापारके द्वारा परमात्माकी पूजा की जाय तो इसीसे परमपदकी प्राप्ति भी हो सकती है।

——०——

व्यापारसे मुक्ति

असत्य, कपट और लोभ आदिका त्याग करके यदि भगवत्-प्रीत्यर्थ न्याययुक्त व्यापार किया जाय तो वही मुक्तिका मुख्य साधन बन सकता है। मुक्तिमें प्रधान हेतु भाव है, क्रिया नहीं है। शास्त्रविधिके अनुसार सकाम भावसे यज्ञ, दान, तप आदि उत्तम कर्म करनेवाला मुक्ति नहीं पाता, सकाम बुद्धिके कारण वह या तो उस सिद्धिको प्राप्त होता है जिसके लिये वह उक्त सत्कार्य करता है या निश्चित कालके लिये स्वर्गको प्राप्त करता है; परन्तु निष्कामभावसे किया हुआ अल्प कर्म भी मुक्तिका हेतु बन सकता है। इसीलिये सकाम कर्मको तुच्छ और अल्प कहा है, कुछ भी न करनेवालेकी अपेक्षा सकाम यज्ञादि कर्म करनेवाले बहुत ही उत्तम हैं और इन लोगोंको प्रोत्साहन ही मिलना चाहिये; परन्तु सकाम भाव रहनेतक वह कर्म स्त्री, धन,

मान-बड़ाई या स्वर्गादिके अतिरिक्त परमपदकी प्राप्ति करानेमें समर्थ नहीं होता। इसीसे गीतामें भगवान्‌ने सकाम कर्मको निष्कामी-की अपेक्षा नीचा बताया है (देखो गीता अ० २ । ४२, ४३, ४४; अ० ७ । २०, २१, २२; अ० ९ । २०, २१)। पक्षान्तरमें निष्काम कर्मकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

(गीता २ । ४०)

'इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और विपरीत फलरूप दोष भी नहीं होता है। इसलिये इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।' अतएव मुक्तिकामियोंको निष्काम कर्म का आचरण करना चाहिये। मुक्तिके लिये आवश्यकता ज्ञानकी है, किसी अन्य बाह्य उपकरणकी नहीं, इसीसे मुक्तिका अधिकार साधन-सम्पन्न होनेपर सभीको है। व्यापारी भाइयोंको व्यापार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। वे यदि चाहें तो व्यापारको ही मुक्तिका साधन बना सकते हैं। भगवान्‌ने वर्ण धर्मका वर्णन करते हुए कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८ । ४६)

'जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सर्व जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने

स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

इस मन्त्रके अनुसार वैश्य अपने वर्णोचित कर्म व्यापारके द्वारा ही भगवान्को पूजकर परम सिद्धिपा सकते हैं। इस भावनासे व्यापार करनेवाले सरलता और सुगमताके साथ संसारका सब काम सुचारु-रूपसे करते हुए भी मनुष्य-जीवनके अन्तिम ध्येयको प्राप्त कर सकते हैं। लोभ या धनकी इच्छासे न कर, कर्तव्यबुद्धिसे व्यापार करना चाहिये। कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्ममें पाप नहीं रह सकते। पाप होने के कारण लोभ और आसक्ति है। कर्तव्यबुद्धिमेंइनको स्थान नहीं है। कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए व्यापारद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि और ईश्वरकी प्रसन्नता होती है। शुद्ध अन्तकरणमें तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा होती है और उससे भगवत्कृपा होनेपर परमपदकी सुलभतासे प्राप्ति होती है। परमपद-प्राप्ति करनेकी इच्छा न रखकर केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ व्यापार करनेवाला और भी उत्तम तथा प्रशंसनीय है।

गीता के उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार जब यह विवेक हो जाता है कि सारा संसार ईश्वरसे उत्पन्न है और वह ईश्वर ही समस्त संसारमें स्थित है, तब फिर उसका विस्मरण कभी नही हो सकता। परमात्माके इस चेतन और विज्ञानस्वरूपकी नित्य जागृति रहनेके कारण माया या अन्धकारके कार्यरूप काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रु कभी उसके समीप ही नही आ सकते। प्रकाशमें अन्धकारको स्थान कहाँ है, व्यापारमें असत्य, छल-कपटादि करनेकी प्रवृत्ति काम, लोभादि दोषोंके कारण ही होती है। जक काम-लोभादिका अभाव हो जाता है तव व्यापार स्वतः ही पवित्र वन जाता है। अव विचारणीय प्रश्न यह है कि उस व्यापारसे ईश्वर-पूजा कैसे की

जाय ? पूजाके लिये शुद्ध वस्तु चाहिये । पापरहित व्यापार शुद्ध तो हो गया, पर पूजा कैसे हो ? पूजा यही है कि लोभ के स्थानमें ईश्वरप्रीतिकी भावना करली जाय । पतिव्रता रमणीकी भाँति समस्त कार्य ईश्वर-प्रीत्यर्थ, ईश्वरकी आज्ञानुसार हो । ऐसा व्यापार-कार्यमें किसी दोषको स्थान नहीं रह जाता और यदि कहीं भ्रमसे अनजानमें कोई दोष हो भी जाता है तो वह दोष नहीं समझा जाता । कारण, उसमें सकाम भाव नहीं है। यदि कोई मनुष्य स्वार्थ, मान-बड़ाईका सर्वथा त्यागकर लोकसेवाके कार्यमें लग जाता है और कभी दैवयोगसे उससे कोई भूल बन जाती है, तब भी उसे कोई दोष नहीं देते और न उसे दोष लगता है । यह स्वार्थत्यागका---निष्काम भावका महत्त्व है । यदि कोई कहे कि स्वार्थ बिना व्यापारमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, जब कोई स्वार्थ ही नहीं तब व्यापार कोई क्यों करेगा ? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि स्वार्थ देखनेकी इच्छा हो तो इसमें बड़ा भारी स्वार्थ भी समाया हुआ है । अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होना और उससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाना क्या कम स्वार्थ है ? यही तो परम स्वार्थ है । पर इस स्वार्थकी बुद्धि भी जितने अंशमें अधिक त्याग की जाय, उतनी ही जल्दी सिद्धि होती है । स्वार्थ बुद्धि हुए बिना लोग प्रवृत्त नहीं हो सकते, इसीलिये यहाँपर यह स्वार्थ बतलाया गया है, नहीं तो स्वार्थके लिये किसी कर्ममें प्रवृत्त होना बहुत उत्तम बात नहीं है ।

यदि यह शका हो ही कि लोभ-बुद्धि रक्खे बिना तो व्यापारमें नुकसान ही होगा, कभी लाभ होना सम्भव नहीं । यदि ऐसा है

तो फिर यह काम केवल धनी लोग ही कर सकते हैं, सर्वसाधारणके लिये यह उपाय उपयुक्त नहीं है पर ऐसी बात नहीं है। एक ईमानदार सच्चा गुमाश्ता मालिकके आज्ञानुसार मालिकके लिये बड़ी कुशलतासे आलस्य और प्रमाद छोड़कर दूकानका काम करता है, मालिकसे अपनी उन्नति चाहनेके सिवा दूकानके किसी काममें उसका अन्य कोई स्वार्थ नही है। न उसे अन्य स्वार्थ-बुद्धि ही है। इस कार्यमें कही उन्नतिमें बाधा नहीं आती। इसी प्रकार भक्त अपने भगवान्‌की प्रीतिरूप स्वार्थका आश्रय लेकर सब कुछो भगवान्‌का समझकर उसके आज्ञानुसार सारा कार्य करे तो उसकी उन्नतिमें कोई बाधा नही आ सकती। रही धनकी बात, सो धनवान् निःस्वार्थबुद्धिसे कार्य कर सकता है, गरीब नही कर सकता, यह माना भ्रममूलक है। दृष्टान्त तो प्रायः इसके विपरीत मिला करते हैं। धन तो निःस्वार्थ भावमें बाधक होता है। जो जो स्वार्थबुद्धिसे सर्वथा छूटा हुआ हो उसकी बात तो दूसरी है, नहीं तो धनसे अहङ्कार, ममता, लोभ और प्रमाद उत्पन्न हो ही जाते हैं। न्याययुक्त निःस्वार्थ व्यापारके लिये अधिक पूँजीकी भी आवश्यकता नही है। वास्तमे इसमें थोड़ी या ज्यादा पूँजीका प्रश्न नही है, सारी बात निर्भर है कर्ताकी बुद्धिपर! एक पूँजीपति निःस्वार्थबुद्धि न होनेसे बड़ी पूँजीके व्यापारसे गरीबोंकी सेवा नही कर सकता, पर तैल, नमक, भूजा बेचनेवाला एक गरीब दूकानदार निःस्वार्थबुद्धि होनेके कारण संसारकी सेवा करनेमें समर्थ होता है। बड़ा व्यापारी पापबुद्धिसे नरकोंमें जा सकता है; परन्तु पान-सुपारी बेचनेवाला निःस्वार्थी भक्त, गरीब जनता-

रूप परमात्माकी सेवा कर परमपदको प्राप्त कर सकता है ।

दूकानदार को यह बुद्धि रखनी चाहिये कि उसकी दूकानपर जो ग्राहक आता है वह साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है । जैसे लोभी दूकानदार झूठ कपट करके, दिखौवा आदर-सत्कार या प्रेम करके हर तरहसे ग्राहकको ठगना चाहता है वैसे ही इस दूकानदारको चाहिये कि वह सच्ची सरल बातोंसे सच्चे प्रेमके साथ ग्राहकको सब बाते यथार्थ समझाकर उसका जिस बातमें हित होता हो वही करे, लोभीकी दूकानपर जैसे ग्राहक बार-बार नहीं आया करते; क्योंकि आये ग्राहकको ठग लेनेमें ही वह अपना कर्तव्य समझता है और ऐसा ही दूकानदार आजकल चतुर और कमाऊ समझा जाता है । इसी प्रकार यह समझकर कि ग्राहकरूपी परमात्मा वार-बार नहीं आते, इनकी जो कुछ भी सेवा मुझसे हो जाय सो थोड़ी है, उसके साथ पूरी तरहसे उसके हितको देखते हुए पूर्ण सत्यताका व्यवहार करना चाहिये ।

संसारका सब धन परमात्माका है, हम सब उसकी प्रजा हैं, परमात्माने योग्यतानुसार सबको खजाना सँभलाकर हमें उसकी रक्षा और यथायोग्य व्यवहार की आज्ञा दी है ।

अतएव कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं है । जिसके पास अधिक रुपये हैं और ज्यादा काम जिम्मे है वह बड़ा है और कम-वाला छोटा है सो वात नहीं है । छोटे-बड़े सबको एक दिन सब कुछ दूसरे को सौपकर मालिकके घर जाना पड़ता है । जो मालिक-का काम ईमानदारीसे चलाकर जाता है वह सुखसे जाता है और तरक्की पाता है, मालिकके मन चढ़ जानेपर मालिकके बराबरका

हिस्सेदार भी वन सकता है और जो वेईमानीसे मालिककी चीजको अपनी समझकर कर्तव्य भूलकर छल-कपट करके जाता है, वह दण्डका और अवनतिका पात्र होता है।

एक पिताके कई पुत्र है, सवका दूकानमे समान हिस्सा है, पर सव अलग-अलग काम देखते है। एक सेठाई करता है, एक दूकानदारी करता है, एक रोकड़का काम देखता है, एक घरका काम देखता है, एक रुपये उगाहनेका काम करता है, सभी उस एक ही फर्मकी उन्नतिमे लगे है। पिताने काम बॉट दिये है, उसी तरह काम कर रहे हैं। इनमे हिस्सेके हिसाबमे कोई छोटा-बड़ा नही है, परतु अलग-अलग अपना काम न कर यदि सभी सेठाई या सभी दूकानदारी करना चाहे तो सारी व्यवस्था विगड़ जाती है। इसी प्रकार परम पिता परमात्माके सव सन्तान भिन्न-भिन्न कार्य करते है, जो उसका सेवक वनकर नि.स्वार्थभावसे उसके आज्ञानुसार कार्य करता है वही उसको अधिक प्यारा है।

नाटकमे नाटकका स्वामी यदि स्वय एक मामूली चपरासीका पार्ट करता है तो वह छोटा थोड़े ही वन जाता है। जिसके जिम्मे जो काम हो उसे वही करना चाहिये। जिसका कार्य सुन्दर और स्वार्थरहित होगा उसीपर प्रभु प्रसन्न होगे।

अतएव प्राणीमात्रको परमात्माका स्वरूप और पूजनीय समझकर झूठ, कपट, छलको त्याग कर स्वार्थवुद्धिसे रहित हो अपने-अपने कार्यद्वारा सर्वव्यापी परमात्माकी पूजा करनी चाहिये। मनमें सदा यह भावना रखनी चाहिये कि किस तरह मैं इस रूपमें मेरे सामने

प्रत्यक्ष रहनेवाले परमात्माकी सेवा अधिक कर सकूं। इस भावनामें व्यापार आप ही सुधर सकता है और इससे एक व्यापारी दूकानपर बैठा हुआ कुछ भी व्यापार करता हुआ सरलताके साथ परमात्माकी सेवा कर उन्हे प्रसन्न कर सकता है। व्यापारी, दलाल, वकील, डाक्टर, जमींदार, किसान सभी कोई अपनी-अपनी आजीविकाके पेशेद्वारा इस बुद्धिसे परमात्माकी सेवा कर सकते हैं।

सारी बात नीयतपर निर्भर है। मालिककी पूँजी बनी रहे और आनेवाले महाजनोंकी हर तरहसे सेवा होती रहे, इसी भावसे सबको सबके साथ बर्ताव करना चाहिये। अपने-अपने कर्मोद्वारा ग्राहकोंको सरलताके साथ नि:स्वार्थबुद्धिसे सुख पहुँचाना ही स्वकर्मके द्वारा परमात्माकी पूजा करना है और इस पूजारूप भक्तिसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है इसमे कोई सन्देह नही। इस भावको जाग्रत् रखनेके लिये भगवान्के नाम-जपकी आवश्यकता है। जैसे बिगुलकी आवाजसे सिपाही सावधान रहते है ऐसे ही नाम-जपकी बिगुल बजाते रहकर मन-इन्द्रियोको सदा सावधान रखना चाहिये और बुद्धिके द्वारा श्रीमद्भगवद्गीताके उपर्युक्त १८। ४६ के मन्त्रका बारंबार मनन और विचार कर तदनुसार अपनेको बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा हो जानेपर अनायास ही 'व्यापारके द्वारा मुक्ति' हो सकती है।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

कोई कहते है कि 'संसारमे कर्म ही प्रधान है, जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है' दूसरे कहते है कि 'ईश्वर ही सबको वन्दरकी तरह नचाते है ।' इन दोनों मतोंमें परस्पर विरोध मालूम होता है । यदि कर्म ही प्रधान है और मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है तो ईश्वरका वाजीगरकी भाँति जीवको नचाना सिद्ध नही होता है और न ईश्वरकी कोई महत्ता ही रह जाती है । पक्षान्तरमे यदि ईश्वर ही सब कुछ करवाता है, मनुष्य कर्म करनेमे सर्वथा परतन्त्र है तो किसीके द्वारा किये हुए बुरे कर्म-का फल उसे क्यों मिलना चाहिये ? जिस ईश्वरने कर्म करवाया, फलभोगका भागी भी उसे ही होना चाहिये, पर ऐसा देखा नही जाता—इस तरहके प्रश्न प्राय. उठा करते है, अतएव इस विषयपर कुछ विवेचन किया जाता है ।

मेरी समझसे जीव वास्तवमे परमेश्वर और प्रकृतिके अधीन हैं । कम-से-कम फल भोगनेमें तो वह सर्वथा परतन्त्र है । धन, स्त्री, पुत्र, कीर्ति आदिका सयोग-वियोग कर्मफलवश परवशतासे ही होता है, इसमे कुछ भी सन्देह नही । नवीन कर्मोके करनेमें भी वह है तो परतन्त्र ही, परन्तु कुछ अशमे स्वतन्त्र भी है, या यो कहिये

कि स्वेच्छासे मौका पाकर वह अनधिकार स्वतन्त्र आचरण करने लगता है, इसीसे उसे दण्डका भोग भी करना पड़ता है।

बंदर बाजीगरके अधीन है, उसके गलेमें रस्सी बँधी है, मालिककी इच्छाके अनुकूल नाचना ही उसका कर्तव्य है, यदि वह मालिककी इच्छाके विपरीत किञ्चित् भी आचरण नहीं करता तो मालिक प्रसन्न होकर उसे अच्छा खाना देता है, अधिक प्यार करता है। कदाचित् वह मालिकके इच्छानुसार नहीं चलता—प्रतिकूल आचरण करता है तो मालिक उसे मारता है—दण्ड देता है। इस दण्ड देनेमें भी उसका हेतु केवल यही है कि वह उसके अनुकूल बन जाय। बाजीगर बंदरको मारता हुआ भी यह नहीं चाहता कि बंदरका बुरा हो; क्योंकि इस अवस्थामें भी वह उसे खानेको देता है, उसका पालन-पोषण करता है।

इस प्रकारका बर्ताव सन्तानके प्रति माता-पिताका हुआ करता है, अवश्य ही बाजीगरकी अपेक्षा माता-पिताके बर्तावका दर्जा ऊँचा है। बाजीगरका वह बर्ताव—भूलपर दण्ड देते हुए भी पोषण करना—केवल स्वार्थवश होता है। माता-पिता अपने स्वार्थके अतिरिक्त सन्तानका निजका हित भी सोचते हैं; क्योंकि वह उनका आत्मा है। परन्तु परमात्माका दर्जा तो इन दोनोंसे भी ऊँचा है; क्योंकि वह अहैतुक प्रेमी तथा सर्वथा स्वार्थशून्य है। वह जो कुछ करता है, सब हमारे हितके लिये ही करता है। वास्तवमें हम सर्वथा उसके अधीन हैं, तथापि उसने हमें दयापूर्वक इच्छानुसार सत्कर्म करनेका अधिकार दे रक्खा है। उसके आज्ञा-

नुसार कर्म करना ही हमारा वह अधिकार है। यदि हम उस अधिकारका व्यतिक्रम करते हैं तो वह परम पिता हमे बड़े प्यारसे हमारा दोप दूर करनेके लिये—हमे कुपथसे हटाकर सुपथपर लानेके लिये दण्ड देता है। उसका दण्डविधान कही-कहीं भीषण प्रतीत होनेपर भी दया और प्रेमसे लबालब भरा रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर मनुष्यको अपने अधिकारका अतिक्रम करने ही क्यो देता है ? वह तो सर्वसमर्थ है, क्षणभरमें अघटन घटना घटा सकता है, फिर वह मनुष्यको उसके अधिकारोके बाहर दुष्कर्मोमे प्रवृत्त ही क्यों होने देता है ? इसका उत्तर इस दृष्टान्तसे समझनेकी चेष्टा कीजिये।

सरकारने किसी व्यक्तिको आत्मरक्षार्थ बदूक रखनेकी सनद दी है, बदूक उसके अधिकारमें है, वह जब चाहे तभी उसका यथेच्छ उपयोग कर सकता है। परन्तु कानूनसे उसे मर्यादाके अदर ही उपयोग करनेका अधिकार है, चोरी करने, डाका डालने, किसीका खून करने या ऐसे ही किसी बेकानूनी अन्यायकार्य में वह उस बदूकका उपयोग नही कर सकता। करता है तो उसका वह कार्य अन्याय और नियमविरुद्ध समझा जाता है। परिणाममे उसकी सनद छीन ली जाती है और वह उपयुक्त दण्डका पात्र होता है। अथवा यो समझिये कि किसी राज्यमें किसी व्यक्तिको कोई अधिकार राजाकी ओरसे इसलिये दिया गया है कि अपने-अपने अधिकार के अनुसार प्रजाकी सेवा करता हुआ राज्यका वह काम जो उसके जिम्मे है, नियमानुसार सुचारुरूपसे करे। वह

यदि सुचारुरूप से नियमानुसार काम करता है तो राजा प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार दे सकता है, उसकी पदोन्नति हो सकती है और वह बढते-बढ़ते अन्त तक राज्य का पूरा अधिकारी भी हो सकता है। परन्तु यदि वह अपने अधिकारका दुरुपयोग करे, कानूनके विरुद्ध कार्यवाही करने लगे तो उसका अधिकार छिन जाता है और उसे दण्ड मिलता है। यह सब होते हुए भी बंदूकका या अपने अधिकारका दुरुपयोग करते समय सरकार या राजा उसका हाथ पकड़ने नही आते। कार्य कर चुकनेपर ही उपयुक्त दण्ड मिलता है। इसी प्रकार परमात्माने भी हमे सत्कर्म करनेका अधिकार दे रखा है; परन्तु हम दुष्कर्म करते है तो वह हमें रोकता नही, कर्म करनेपर उसका यथोचित दण्ड देता है।

यहाँ पर फिर यह प्रश्न होता है कि इस जगत्‌की सरकार या यहांके राजा तो सर्वज्ञ या सर्वव्यापी न होनेसे कानून तोड़कर अधिकार.का दुरुपयोग करनेवालोंके हाथ नही पकड़ सकते, परन्तु परमात्मा जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सर्वान्तिर्यामी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् हैं, उससे तो मन, वाणी, शरीरकी कोई क्रिया छिपी नही है। वह दुष्कर्म करनेवाले मनुष्य का हाथ पकड़कर उसे बलात्कार से क्यों नही रोक देता ? इसका उत्तर यही है कि परमात्माकी विधि इस तरह रोकनेकी नहीं है, उसने मनुष्यको अपने जीवनमे कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दे रक्खी है। पर साथ ही दया करके उसे शुभाशुभ परखनेवाली बुद्धि या विवेक भी दे दिया है जिससे वह भले-बुरेका विचार कर अपना कर्तव्य निश्चय कर सके और यह भी घोषणा कर दी है कि यदि कोई मनुष्य अनधिकार—शास्त्रविपरीत चेष्टा करेगा तो उसे अवश्य दण्ड भोगना

पड़ेगा। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाजीगरके बंदरकी भाँति ईश्वर ही सबको नचाता है, सभी उसके अधीन हैं परन्तु जैसे भूल करनेवाले बंदर को दण्ड मिलता है, इसी प्रकार ईश्वरकी आज्ञा न माननेवालेको भी दण्डका भागी होना पड़ता है। अवश्य ही नाच भगवान् नचाते हैं; परन्तु नाचनेमे मालिकके इच्छानुसार या उसके प्रतिकूल नाचना बन्दरके अधिकारमे है। सरकार या राजाने अधिकार दिया है परन्तु उन्होंने उसका दुरुपयोग करनेकी आज्ञा नहीं दी है। भगवान्‌ने भी मनुष्य-जीवन प्रदान कर सत्कर्मोंके द्वारा क्रमशः उन्नत होकर परमपद प्राप्त करनेका अधिकार हमें प्रदान किया है; परन्तु पाप करनेकी आज्ञा उन्होंने नहीं दी है। जब एक न्याय-परायण मामूली राजा भी अपने किसी अफसरको अधिकार का दुरुपयोग कर पाप करनेकी आज्ञा नहीं देता, तब भगवान् तो ऐसी आज्ञा दे ही कैसे सकते हैं ? अतएव यह बात भी ठीक है कि मनुष्य सर्वथा ईश्वरके अधीन है। साथ ही यह भी सत्य है कि वह ईश्वरप्रदत्त अधिकारका सदुपयोग कर परम उन्नति और उसका दुरुपयोग कर अत्यन्त अधोगतिको भी प्राप्त हो सकता है।

अब यह प्रश्न होता है कि 'भगवान्‌की आज्ञा न होने और परिणाममे दुःखकी सम्भावना होनेपर भी मनुष्य भगवदिच्छाके विरुद्ध पापाचरण क्यों करता है ? किस कारणसे वह जान-बूझकर पापोंमें प्रवृत्त होता है ?' इस प्रश्नपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इस पापकी प्रवृत्तिका कारण अज्ञान है। अज्ञानसे

आवृत होकर ही सब जीव मोहित हो रहे है, 'अज्ञानेनावृत ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव. ।' (गीता ५ । १५)

प्रकृतिके दो स्वरूप हैं—विद्यात्मक और 'अविद्यात्मक । इन दोनोमे अविद्यात्मक प्रकृतिका स्वरूप अज्ञान है । इसी अज्ञानसे उत्पन्न अहकार, आसक्ति आदि दोषोके वश होकर मनुष्य पापमें प्रवृत्त होता है । ससारमे अविद्या आदि पाँच क्लेश महर्षि पतञ्जलिने भी माने हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।

(यो० सा० ३)

'अविद्या' अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये पॉच क्लेश कहलाते है ।' इनमे पिछले चारो क्लेशोंकी उत्पत्ति अविद्यासे ही होती है । ससारके सब प्रकारके क्लेशोमें ये पॉच ही हेतु है । इन्ही अज्ञानज पञ्चक्लेशोसे मनुष्य परिणाम भूलकर पाप करता है ।

इन पांचोकी सक्षिप्त व्याख्या यह है—'अविद्या' जिससे अनित्यमे नित्य-बुद्धि, अशुचिमे शुचि-बुद्धि, दुःखमे सुख-बुद्धि और अनात्ममे आत्म-बुद्धिरूप विपरीत ज्ञान हो रहा है । 'अस्मिता' अहकार या 'मैं' भावको कहते है, जो समस्त बन्धनोंका हेतु है । 'राग' आसक्तिका नाम है, इसीसे मनुष्य पापमे लगता है । 'द्वेष' मनके विरुद्ध कार्योंमें होनेवाले भावका नाम है । राग-द्वेपरूप बीजसे ही काम-क्रोधरूप महान् अनर्थकारी वृक्ष उत्पन्न होते है । मरण-भयको 'अभिनिवेश' कहते हैं । अस्तु—

अर्जुनने भी भगवान्से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित· ॥

(गीता ३ । ३६)

'हे श्रीकृष्ण ! फिर यह पुरुष वलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पापका आचरण करता है ।' इसके उत्तरमे भगवान्‌ने कहा कि हे अर्जुन !—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा-अशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला वड़ा पापी है, इस विपयमें इसको ही तू वैरी जान ।' इस कामरूप वैरीका निवास इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें है । इन मन, बुद्धि, इन्द्रियोद्वारा ही इसने ज्ञानको आच्छादित कर जीवात्माको मोहित कर रक्खा है । अतएव इनको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानके नाश करनेवाले पापी कामको मारना चाहिये । क्योंकि बुरे कर्म अज्ञान—अविद्याजनित आसक्तिसे या कामनासे होते हैं जो इनके वशमे न होकर भगवान्‌के दिये हुए अधिकारके अनुसार वर्तता है, वह यहाॅ सर्वतोभावसे सुखी रहकर, अन्तमे परम सुखरूप परमात्माको प्राप्त करता है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य कर्म करनेमें परतन्त्र है, परन्तु ईश्वरकी दी हुई स्वतन्त्रतासे कुछ अशमे स्वतन्त्र भी है ।

—:०:—

कर्मका रहस्य

एक सज्जनका प्रश्न है "जब यह बात निश्चित है कि हम अपने ही कर्मोंका फल भोगते हैं, हमारे कर्मोंके अनुसार ही हमारी अच्छी या खराब बुद्धि होती है, तब हम यह किसलिये कहते हैं कि मनुष्य कुछ नही कर सकता, जो कुछ करता है वह ईश्वर ही करता है। ईश्वर तो हमारे कर्मोंके फलको न कम कर सकता है न ज्यादा, तब फिर हम ईश्वरका भजन ही क्यो करे ?"

इसमे कोई सन्देह नही कि मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगता है और उसकी बुद्धि भी प्राय कर्मानुसार होती है। यह भी ठीक है कि कर्मोंके अनुसार बने हुए स्वभावके अनुकूल ईश्वरीय प्रेरणासे ही मनुष्य किसी भी क्रियाके करनेमे समर्थ होता है, ईश्वरीय सत्ता, शक्ति, चेतना, स्फूर्ति और प्रेरणाके अभावमें क्रिया असम्भव है। इस न्यायसे सब कुछ ईश्वर ही कराता है। यह भी युक्तियुक्त सिद्धान्त है कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ होनेपर भी कर्मोंके फलको न्यूनाधिक नही करता। इतना सब होते हुए भी ईश्वरके भजनकी बड़ी आवश्यकता है। इस विषयका विवेचन करनेसे पहले 'कर्म क्या है' 'उसका भोग किस तरह होता है' 'कर्मफलभोगमे मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र' आदि विषयोंपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

शास्त्रकारोंने कर्म तीन प्रकारके बतलाये हैं—(१) सञ्चित,

(२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। अब इनपर अलग-अलग विचार कीजिये—

सञ्चित

सञ्चित कहते है अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके संगृहीत कर्मोंको। मन, वाणी, शरीरसे मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह जबतक क्रियारूपमे रहता है, तबतक वह क्रियमाण है और पूरा होते ही तत्काल सञ्चित बन जाता है। जैसे एक किसान चिरकालसे खेती करता है, खेतीमें जो अनाज उत्पन्न होता है उसे वह एक कोठेमें जमा करता रहता है। इस प्रकार बहुत-से वर्षोंका विविध प्रकारका अनाज उसके कोठेमें भरा है, खेती पकते ही नया अनाज उस कोठेमे फिर आ जाता है। इसमें खेती करना कर्म है और अनाजसे भरा हुआ कोठा उसका सञ्चित है। ऐसे ही कर्म करना क्रियमाण और उसके पूरा होते ही हृदयरूप वृहत् भण्डारमें जमा हो जाना सञ्चित है। मनुष्यको इस अपार सञ्चित कर्मराशिमेसे, पुण्य-पापके बड़े ढेरमेंसे कुछ-कुछ अंश लेकर जो शरीर बनता है, उसमे उन भोगोसे ही नाश होनेवाले कर्मोंके अशका नाम प्रारब्ध होता है। इसी प्रकार जबतक सञ्चित अवशेष रहता है, तबतक प्रारब्ध बना रहता है। जबतक इस अनेक जन्मार्जित कर्मसञ्चयका सर्वथा नाश नही होता, तबतक जीवकी मुक्ति नही हो सकती। सञ्चितसे स्फुरणा, स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे पुनः सञ्चित और सञ्चितके अंशसे प्रारब्ध। इस प्रकार कर्मप्रवाहमें जीव निरन्तर वहता ही रहता है। सञ्चितके अनुसार ही बुद्धिकी वृत्तियाँ होती

है यानी सञ्चितहीके कारण उसीके अनुकूल हृदयमे कर्मोंके लिये प्रेरणा होती है। सात्त्विक, राजस या तामस समस्त स्फुरणाओं या कर्मप्रेरणाओंका प्रधान कारण 'सञ्चित' ही है। यह अवश्य जान रखनेकी वात है कि सञ्चित केवल प्रेरणा करता है, तदनुसार कर्म करनेके लिये मनुष्यको वाध्य नही कर सकता। कर्म करनेमे वर्तमान समयके कर्म ही, जिन्हे पुरुषार्थ कहते हैं, प्रधान कारण हैं। यदि पुरुषार्थ सञ्चितके अनुकूल होता है तो वह सञ्चित-द्वारा उत्पन्न हुई कर्मप्रेरणामे सहायक होकर वैसा ही कर्म करा देता है, प्रतिकूल होता है तो उस प्रेरणाको रोक देता है। जैसे किसीके मनमे बुरे सञ्चितसे चोरी करनेकी स्फुरणा हुई, दूसरेके धनपर मन चला, परन्तु अच्छे सत्सङ्ग, विचार और शुभ वातारणके प्रभावसे वह स्फुरणा वही दवकर नष्ट हो गयी। इसी प्रकार शुभ सञ्चितसे दानकी इच्छा हुई, परन्तु वह भी वर्तमानके कुसङ्गियोंकी बुरी सलाहसे दबकर नष्ट हो गयी। मतलब यह कि कर्म होनेमे वर्तमान पुरुषार्थ ही प्रधान कारण है। इस समयके शुभ सङ्ग और शुभ विचारजनित कर्मोंके नवीन शुभ सञ्चित बनकर पुराने सञ्चितको दवा देते है जिससे पुराने सञ्चितके अनुसार स्फुरणा वहुत कम होने लगती है।

किसानके कोठेमे वर्षोका अनाज भरा है, अवकी बार किसानने नयी खेतीका अनाज उसमे और भर दिया, अव यदि उसे अनाज निकालना होगा तो सवसे पहले वही निकलेगा जो नया होगा, क्योंकि वही सवसे आगे है। इसी प्रकार सञ्चितके विशाल ढेरमे स सवसे पहले उसीके अनुसार मनमे स्फुरणा होगी

जो सञ्चित नये-से-नये कर्मका होगा। मनमें मनुष्यके बहुत विचार भरे है परन्तु उसे अधिक स्मृति उन्ही विचारोंकी होती है, जिनमें वह अपना समय वर्तमानमे विशेष लगा रहा है। एक आदमी साधुसेवी है, परन्तु कुसङ्गवश वह नाटक देखने लगा, इससे उसे नाटकोंके दृश्य ही याद आने लगे। जिस तरहकी स्फुरणा मनुष्यके मनमे होती है, यदि पुरुषार्थ उसके प्रतिकूल नही होता, तो प्रायः उसीके अनुसार वह कर्म करता है, कर्मका वैसा ही नया सञ्चित होता है, उससे फिर वैसी ही स्फुरणा होती है, पुनः वैसे ही कर्म बनते है। नाटक देखनेसे उसीकी स्मृति हुई, फिर देखनेकी स्फुरणा हुई, सङ्ग अनुकूल था, अत पुनः देखने गया, पुन. उसीकी स्मृति और स्फुरणा हुई, पुनः नाटक देखने गया। यो होते-होते तो वह मनुष्य साधुसेवारूपी सत्कर्मको छोड़ बैठा और धीरे-धीरे उसकी बात भी वह प्रायः भूल गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्सङ्ग, सदुपदेश, सद्विचार आदिसे उत्पन्न वर्तमान कर्मोसे पूर्वसञ्चितकी स्फुरणाएँ दब जाती है, इसीसे यह कहा जाता है कि मनुष्य सञ्चितके सग्रह, परिवर्तन और उसकी क्षय-वृद्धिमे प्राय. स्वतन्त्र है।

अन्तःकरणमे कुछ स्फुरणाएँ प्रारब्धसे भी होती है। यद्यपि यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौन-सी स्फुरणा सञ्चितकी है और कौन-सी प्रारब्धकी है; परन्तु साधारणतः यो समझना चाहिये कि जो स्फुरणा या वासनाएँ नवीन पाप-पुण्यके करनेमे हेतुरूप होती है, उनका कारण सञ्चित है और जो केवल सुख-दुःख भुगतानेवाली होती है, वे प्रारब्धसे हती है। प्रारब्धसे होनेवाली वासनासे सुख-दु.खोंका भोग मानसिकरूपसे सूक्ष्म शरीरको भी हो

सकता है और स्थूल शरीरके द्वारा क्रिया होकर भी हो सकता है; परन्तु इस प्रारब्धसे उत्पन्न वासनाके परिवर्तनकी स्वतंत्रता मनुष्यको नहीं है।

प्रारब्ध

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाप-पुण्यरूप सञ्चितके कुछ अंशसे एक जन्मके लिये भोग भुगतानेके उद्देश्यसे प्रारब्ध बनता है। यह भोग दो प्रकारसे भोगा जाता है; मानसिक वासनासे और स्थूल शरीरकी क्रियाओंसे। स्वप्नादिमें या अन्य समय जो तरह-तरहकी वृत्ति-तरङ्गे चित्तमें उठती है; उनसे जो सुख-दुःखका भोग होता है, वह मानसिक है। एक व्यापारीने अनाज खरीदा, मनमें आया कि अबकी बार इस अनाजमे इतना नफा हो गया तो जमीन खरीदकर मकान बनवाऊँगा, नफे के कई कारणोंकी कल्पना भी हो गयी, मन आनन्दसे भर गया, दूसरे ही क्षण मनमें आया कि यदि कहीं भाव मंदा हो गया, घाटा लगा तो महाजनकी रकम भरनेके लिये घर-द्वार बेचने की नौबत आ जायगी, मनमे चिन्ता हुई, चेहरा उतर गया। चित्तमे इस तरहकी सुख-दुःख उत्पन्न करनेवाली विविध तरङ्गे क्षण-क्षणमे उठा करती है। ऊपरका सारा साज-सामान ठीक है, दुःखका कोई कारण नजर नही आता, परन्तु मानसिक चिन्तासे मनुष्य बहुधा दुखी देखे जाते है, लोगोको उनके चेहरे उतरे हुए देखकर आश्चर्य होता है। इसी प्रकार सब प्रकारके बाह्य अभावोंमें दुःखके अनेक कारण उपस्थित होनेपर भी मानसिक प्रसन्नतासे समय-समयपर मनुष्य सुखी होते हैं। पुत्रकी मृत्युपर रोते हुए मनुष्यके मुखपर भी चित्त-वृत्तिके बदल जानेसे क्षणभर के लिये

हँसीकी रेखा देखी जाती है। यह भी प्रारब्धका मानसिक भोग है।

प्रारब्ध-भोगका दूसरा प्रकार सुख-दुःखरूप इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंका प्राप्त होना है। सुख-दुःखरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है। जिनको अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छा-प्रारब्ध कहते है।

अनिच्छा—राह चलते हुए मनुष्यपर किसी मकानकी दीवालका टूटकर गिर पड़ना, बिजली पड जाना, वृक्ष टूट पडना, घरमे बैठे हुएपर छत टूट पडना, हाथसे अकस्मात् बदूक छूटकर गोली लग जाना आदि दुःखरूप और राह चलते हुएको रत्न मिल जाना, खेत जोततेको जमीनसे धन मिलना आदि सुखरूप भोग, जिनके प्राप्त करनेकी न मनमे इच्छा की थी और न किसी दूसरेकी ही ऐसी इच्छा थी—इस प्रकारसे अनायास दैवयोगसे आप-से-आप सुख-दुःखादिरूप भोगोंका प्राप्त होना अनिच्छा-प्रारब्ध है।

परेच्छा—सोये हुए मनुष्यपर चोर-डाकुओंका आक्रमण होना, जान-बूझकर किसीके द्वारा दुःख दिया जाना आदि दुःखरूप और कुमार्गमें जाते हुएको सत्पुरुषका रोककर बचा देना, कुपथ्य करते हुए रोगीको हाथ पकड़कर वैद्य या मित्रद्वारा रोका जाना, बिना ही इच्छाके दूसरेके द्वारा धन मिल जाना आदि सुखरूप भोग जो दूसरोंकी इच्छासे प्राप्त होते है, उसका नाम परेच्छा-प्रारब्ध है। इसमें एक बात बहुत समझनेकी है। एक मनुष्यको किसीने चोट पहुचायी या किसी मनुष्यने किसीके घरमे चोरी की, इसमे उस मनुष्यको चोट लगाना या उसके घरमे चोरी होनातो उनके प्रारब्धका भोग है; परन्तु जिसने आघात पहुंचाया और चोरीकी, उसने अवश्य

ही नवीन कर्म किया है, जिसका फल उसे आगे भोगना पडेगा। क्योकि किसी भी कर्मके भोगका हेतु पहलेसे निश्चित नही होता, यदि हेतु निश्चित हो जाय और यह विधान कर दिया जाय कि अमुक पुरुष अमुक के घर चोरी करेगा, अमुक को चोट पहुंचावेगा तो फिर ऐसे लोग निर्दोष ठहरते है, क्योकि वे तो ईश्वरीय विधानके वश होकर चोरी-डकैती आदि करते है। यदि यही बात है तो फिर ऐसे लोगोके लिये शास्त्रोमें दण्डविधान और इन कर्मोके फल-भोगका व्यवस्था क्यो है ?

इसलिये यह मानना चाहिये कि फलभोगके सभी हेतु पहले से निश्चित नही रहते। जिस क्रिया में कोई अन्याय या स्वार्थ रहता है, जो आसक्तिसे की जाती है, वह क्रिया अवश्य नवीन कर्म है। हाँ,यदि ईश्वर किसी व्यक्ति विशेपको ही किसीके मारनेमे हेतु बनाना चाहे, तो वह फाँसी का दण्ड पाये हुए व्यक्ति को फाँसी पर चढ़ानेवाले न्याय कर्ममें नियुक्त जल्लादकी भाँति किसी को हेतु बना सकते हैं। हो सकता है, उस फाँसी चढ़ानेवालेको चढ़नेवाला पूर्वके किसी जन्ममे मार चुका हो या यह भी हो सकता है कि उससे उसका कोई सम्बन्ध ही न हो और वह केवल न्याययुक्त कर्म ही करता हो।

स्वेच्छा—ऋतुकालमें भार्यागमनादिद्वारा सुख प्राप्त होना, उससे पुत्र होना, न होना या होकर मर जाना, न्याययुक्त व्यापार मे कष्ट स्वीकार करना, उससे लाभ होना, न होना या होकर नष्ट हो जाना आदि स्वेच्छा-प्रारब्ध है। इन कर्मोके करनेके लिये जो प्रेरणात्मक वासना होती है, उसका कारण प्रारब्ध है। तदनन्तर क्रिया होती है। क्रियाका सिद्ध होना न होना, सुकृत-दुष्कृत का फल है।

स्वेच्छा-प्रारब्धके भोगोंके कारणको समझ लेना बड़ा ही कठिन विषय है। बड़े सूक्ष्म विचार और भाँति-भाँतिके तर्कोंका आश्रय लेनेपर भी निश्चितरूपसे यह कहना नितान्त कठिन है कि अमुक फलभोग हमारे पूर्वजन्मकृत अमुक कर्मोंका फल है जो उनकी प्रेरणासे मिला है, या इसी जन्मका कोई कर्म हाथों-हाथ सञ्चितसे प्रारब्ध बनकर इसमें कारण हुआ है।

एक मनुष्यने पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि या धनलाभके लिये किसी यज्ञका अनुष्ठान किया। तदनन्तर उसे पुत्र या धनकी प्राप्ति हुई। इस पुत्र या धनकी प्राप्तिमें यज्ञ कारण है या पूर्वजन्मकृत कर्म कारण है इसका यथार्थ निर्णय करना कठिन है। सम्भव है कि उसे पुत्र, धन पूर्वजन्मकृत कर्मके फलरूपमें मिला हो और वर्तमानके यज्ञका फल आगे मिले अथवा क्रियावैगुण्यसे उसका फल नष्ट हो गया हो। एक आदमी रोगनिवृत्तिके लिये औषध सेवन करता है। उसकी बीमारी मिट जाती है, इसमें यह समझना कठिन है कि यह उस औषधका फल है या भोग समाप्त होनेपर स्वतः ही 'काकतालीय' न्यायवत् ऐसा हो गया है।* तथापि यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी हो, है सब स्वेच्छाकृत कर्मोंके

---

*बीमारी पूर्वकृत पापके फलस्वरूप भी होती है और इस समयके कुपथ्य सेवनादिसे भी। कुपथ्यादिसे होनेवाली बीमारी प्रायः औषधसे नष्ट हो जाती है, पर कर्मजन्य रोग भोग समाप्त होनेतक दूर नहीं होता; परन्तु इस बातका निर्णय होना कठिन है कि कौन-सी बीमारी कर्मजन्य है और कौन-सी कुपथ्यजन्य, इसलिये औषध-सेवन सभी बीमारियोंमें करना चाहिये।

प्रारब्धका फल । कर्मोका फल अभी हो या आगे हो, यह कोई नियत बात नही है, सर्वथा ईश्वराधीन है, इसमें जीवकी पूर्ण परतन्त्रता है । इस जीवनमें पाप करनेवाले लोग धन-पुत्र-मानादिसे सुखी देखे जाते है (यद्यपि उनमे कितनोंको मानसिक दुःख बहुत भारी हो सकता है जिसका हमें पता नही) और पुण्य करनेवाले मनुष्य सांसरिक पदार्थोके अभावसे दुखी देखे जाते है, (उनमें भी कितने ही मानसिक सुखी होते है) जिससे पाप-पुण्यके फलमें लोगोंको सन्देह होता है, वहाँ यह समझ रखना चाहिये कि उनके वर्तमान बुरे-भले कर्मोका फल आगे मिलनेवाला है । अभी पूर्व-जन्मकृत कर्मोका अच्छा-बुरा फल प्राप्त हो रहा है !

कहा जाता कि जो कर्म अधिक बलवान् होता है उसका फल तुरंत होता है और जो साधारण है, उसका विलम्बसे होता है परन्तु यह नियम भी सब जगह लागू पड़ता नहीं देखा जाता; अतएव यहाँ यही कहना पड़ता है कि त्रिकालदर्शी जगन्नियन्ता परमात्माके सिवा तर्क-युक्तियोंके बलपर मनुष्य स्वेच्छा-प्रारब्धका निर्णय नही कर सकता । कर्म और फलका संयमन करनेवाले योगी ईश्वरकृपासे अपनी योगशक्ति द्वारा कुछ जान सकते हैं ।

क्रियमाण

अपनी इच्छासे जो बुरे-भले नवीन कर्म किये जाते है, उन्हें क्रियमाण कहते हैं । क्रियमाण कर्मोमें प्रधान हेतु सञ्चित है, कहीं-कही अपना या पराया प्रारब्ध भी हेतु बन जाता है । क्रियमाण कर्ममें मनुष्य ईश्वरके नियमोसे बँधा होनेपर भी क्रिया सम्पन्न करनेमें

प्राय: स्वतन्त्र है। नियमोका पालन करना, न करना उसके अधिकारमें है। इसीसे उसे फलभोगके लिये भी वाध्य होना पड़ता है।

यदि कोई यह कहे कि हमारे द्वारा जो अच्छे-बुरे कर्म हो रहे है, सो सब ईश्वरेच्छा या प्रारब्धसे होते हैं तो उसका ऐसा कहना भ्रमात्मक है, पुण्य-पाप करानेमें ईश्वर या प्रारब्धको हेतु माननेसे प्रधानत: चार दोष आते है, जो निर्विकार, निरपेक्ष, समदर्शी, दयालु न्यायकारी और उदासीन ईश्वरके लिये सर्वथा अनुपयुक्त है।

(१) जब ईश्वर या प्रारब्ध ही बुरे-भले कार्य कराते है तब विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है ? 'सत्यं वद', 'धर्मं चर' [तै० १ । ११ । १] 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, [तै० १ । ११ । २] और 'सुरा न पिवेत्, परदारान्नाभिगच्छेत्' आदि विधि-निपेधमय वाक्योका उल्लङ्घन कर मनमाना यथेच्छाचार करनेवाले पापपरायण व्यक्ति यह अनायास कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके नियन्ता ईश्वरकी प्रेरणासे ही ऐसा कर रहे हैं। अतएव ईश्वरपर शास्त्र हननका दोष आता है।

(२) जब ईश्वर ही सब प्रकारके कर्म करवाता है, तब उन कर्मोका फल सुख-दुख हमे क्यो होना चाहिये ? जो ईश्वर कर्म करता है उसे ही फलभोगका दायित्व भी स्वीकार करना चाहिये। ऐसा न करके वह ईश्वर अपना दोष दूसरोपर डालनेके लिये दोषी ठहरता है।

(३) ईश्वरके न्यायकारी और दयालु होनेमें दोष आता है; क्योंकि कोई भी न्यायकर्ता पापके दण्डविधानमें पुन: पाप करनेको व्यवस्था नही दे सकता। यदि पाप करनेकी व्यवस्था कर दी तो फिर

पापियोंके लिये दण्डकी व्यवस्था करना अन्याय सिद्ध होता है। फिर यदि ईश्वर ही पाप कराता है—पापमें हेतु बनता है और फिर दण्ड देता है तब तो अन्यायी होनेके साथ ही निर्दयी भी बनता है।

(४) ईश्वर ही जब पापीके लिये पुनः पाप करनेका विधान करता है तब जीवके कभी पापोंसे मुक्त होनेका तो कोई उपाय ही नहीं रह जाता। पापका फल पाप, उसका फल पुनः पाप—इस तरह जीव पापमें ही प्रवृत्त रहनेके लिये बाध्य होता है, जिससे एक तो अनवस्थाका दोष और दूसरे ईश्वर जीवोंको पापबन्धनमें रखना चाहता है, यह दोष आता है।

अतः यह मानना उचित नहीं कि ईश्वर पाप-पुण्य कराते हैं, पाप-कर्मके लिये तो ईश्वरकी कभी प्रेरणा ही नहीं होती, पुण्यके लिये—सत्कर्मोंके लिये ईश्वरका आदेश है; परन्तु उसका पालन करना, न करना या विपरीत करना हमारे अधिकारमें है। सरकारी अफसर कानूनके अनुसार चलता हुआ प्रजारक्षणका अधिकारी है; परन्तु अधिकारारूढ़ होकर उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना उसके अधिकारमें है, यद्यपि वह कानूनसे बँधा है तथा कानून तोड़नेपर दण्डका पात्र ही होता है, वही हालत कर्म करनेमें मनुष्यके अधिकारकी है।*

ईश्वर सामान्यरूपसे सन्मार्गका नित्य प्रेरक होनेके कारण जीवके कल्याणमें सहायक होता है। पापकर्मोंके होनेमें प्रधान हेतु निरन्तर विषयचिन्तन है, इसीसे रजोगुणसमुद्भूत कामकी उत्पत्ति

*इस विषयका विशेष विवेचन 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?' शीर्षक लेखमें किया गया है, वहाँ देखना चाहिये।

होती है, उस कामसे ही क्रोध आदि दोष उत्पन्न होकर जीवकी अधोगतिमें कारण होते है। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति के भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाशसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि पापकर्मोंके होनेमे विषयचिन्तन-जनित राग—आसक्ति प्रधान कारण है, ईश्वर या प्रारब्ध नही। चिन्तन या स्फुरण क्रियमाणके—नवीन कर्मके नवीन सञ्चितके अनुसार पहले होता है। अतः पापोसे बचनेके लिये नवीन शुभकर्म करनेकी आवश्यकता है। नवीन शुभकर्मोसे शुभसञ्चित होकर शुभका चिन्तन होगा जिससे शुभकर्मोंके होने और अशुभके रुकनेमे सहायता मिलेगी। इसीलिये अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने पुरुषार्थद्वारा पापकर्मके कारण रागरूप रजोगुणसे उत्पन्न कामका नाश करनेकी आज्ञा दी है। अर्जुनने भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(गीता ३ । ३६)

'हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ।'

इसके उत्तर मे भगवान् बोले कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोसे तृप्त न होनेवाला और पापी है, इस विषयमें इसको ही तू बैरी जान ।'

आगे चलकर भगवान्ने धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भकी भाँति ज्ञानको ढकनेवाले इस दुष्पूरणीय अग्निसदृश कामके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियोको बतलाकर इन्द्रियोंको वश करके ज्ञान-विज्ञाननाशक पापी कामको मारनेकी आज्ञा दी । यदि कामको जय करनेमे जीव समर्थ न होता तो उसके लिये भगवान्की ओरसे इस प्रकारकी आज्ञाका दिया जाना नही बन सकता । अतएव भगवान्के आज्ञानुसार शुभकर्म, शुभसङ्गति करनेसे क्रियमाण शुद्ध हो जाते है । यह क्रियमाण ही सञ्चित और प्रारब्धके हेतुभूत है । इसलिये मनुष्यको क्रियमाण शुभ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । क्योकि इन्हीके करनेमे यह स्वतन्त्र है ।

कर्मोका भोग बिना नाश होता है या नहीं

अब यह समझनेकी आवश्यकता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारके कर्म फलभोगसे ही नाश होते है या उनके नाशका और भी कोई उपाय है ? इनमेसे प्रारब्धकर्मोका नाश तो भोगसे ही होता है, जैसे आप्तपुरुषके वाक्य व्यर्थ नही जाते, इसी प्रकार प्रारब्धकर्मोका नाश बिना भोगे नही हो सकता । भोग पूर्वोक्त अनिच्छा, परेच्छा या स्वेच्छासे हो सकते है और प्रायश्चित्तसे भी । सेवा या दण्डभोग दोनोसे ही छुटकारा मिलनेके उपाय हैं । सञ्चित और क्रियमाण कर्मोका नाश निष्कामभावसे किये हुए यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि सत्कर्मसे तथा प्राणायाम, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (सत्सङ्ग, भजन, ध्यान) आदि परमेश्वरकी उपासनासे हो सकता है । इससे अन्त.करणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे सञ्चितकी राशि तो सूखे घासमे आग लगाकर भस्म हो जानेकी भाँति भस्म हो जाती है। और कोई स्वार्थ न रहनेके कारण किसी भी सासारिक पदार्थकी कामना एवं कर्म करनेमे आसक्ति तथा अहंबुद्धि न रह जानेसे सकाम नवीन कर्म बन नही सकते ।

उत्तम कर्मोसे छुटकारा मिलना तो बहुत ही सहज है, वे तो भगवत्के अर्पण कर देनेमात्रसे ही छूट जाते हैं । जैसे एक मनुष्यने दूसरेको कुछ रुपये कर्ज दे रक्खे हैं । उसे उससे रुपये लेने है, इस लेनेकी भावनासे तो वह हृदयके त्यागसे छूट सकता है । 'रुपये छोड़ दिये' इस त्यागसे ही वह छूट जाता है, परन्तु जिसे रुपये

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि. सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ (गीता ४ । ३७)

देने हैं, वह इस तरह कहनेसे नही छूटता । इसी प्रकार जिन पापों-का दण्ड हमें भोगना है उनसे छुटकारा 'हम नहीं भोगना चाहते' यह कहनेसे नही होता । उनके लिये या तो भोग भोगना पड़ता है या निष्काम कर्म और निष्काम उपासना आदि करने पड़ते है ।

किये हुए पापोंका और सकाम पुण्य-कर्मोंका परस्पर हवाला नही पड़ता, एक दूसरेके वदले मे कटते नही । दोनोंका फल अलग-अलग भोगना पड़ता है । धनदासके मायादासमें रुपये पावने है । मायादासने रुपये नही दिये । इसलिये एक दिन गुस्सेमें आकर धनदासने मायादासपर दो डंडे जमा दिये । मायादासने अदालतमें फरियाद की । इसपर धनदासने कहा कि 'मेरे एक हजार रुपये मायादाससे लेने है, मैंने इसको दो डंडे जरूर मारे है, इस अपराध-के वदलेके दाम काटकर वाकी रुपये मुझे दिलवा दिये जायँ ।' यह सुनकर मैजिस्ट्रेट हँस पड़ा । उसने कहा, 'तुम्हारा दीवानी मुकद्दमा अलग होगा । तुम्हारे रुपये न आवें तो तुम इसपर दीवानी कोर्टमे नालिश करके जेल भिजवा सकते हो, परन्तु यहाँ तो डंडे मारनेके लिये तुम्हे दण्ड भोगना पड़ेगा ।' बस, इसी प्रकार पाप-पुण्यका फल अलग-अलग मिलता है । सकाम पुण्यसे पापका और पापसे सकाम पुण्यका हवाला नही पड़ता ।

कर्मका फल कौन देता है ?

कुछ लोग मानते है कि शुभाशुभ कर्मोका फल कर्मानुसार आप ही मिल जाता है, इसमें न तो कोई नियामक ईश्वर है और न ईश्वरकी आवश्यकता ही है । परन्तु ऐसा मानना भूल है । इसी मान्यता से वहुत वाधाएँ आती है तथा यह युक्तिसङ्गत भी नही है । शुभाशुभ कर्मोंका विभाग कर तदनुसार फलकी व्यवस्था करनेवाले

नियामकके अभावमें कर्मका भोग होना ही सम्भव नही है। क्योंकि कर्म तो जड होनेके कारण नियामक हो नही सकते, वे तो केवल हेतुमात्र हैं और पापकर्म करनेवाला पुरुष स्वयं पापका फल दुःख भोगना चाहता नहीं, यह बात निर्विवाद और लोकप्रसिद्ध है। किसी मनुष्यने चोरी की या डाका डाला। वह चोरी-डकैती नामक कर्म तो जडताके कारण उसके लिये कैदकी व्यवस्था कर नही सकते और वह कर्ता स्वयं चाहता नहीं इसलिये कोई शासक या राजा उसके दण्डीकी व्यवस्था करता है। इसीप्रकार कर्मोंके नियमन,विभागतथाव्यवस्थाके लिये किसी नियामक या व्यवस्थापक ईश्वरकीआवश्यकता है। इससे कोई यह न समझे कि राजा और ईश्वरकी समानता है। राजा सर्वान्तर्यामी और सर्वथा निरपेक्ष स्वभाववाला तथास्वार्थहीन निर्भ्रान्त न होनेके कारण प्रमाद, पक्षपात, अनभिज्ञता या स्वार्थवश अनुचित व्यवस्था भी कर सकता है; परन्तु परमात्मा समदर्शी, सर्वान्तर्यामी, सुहृद्, निरपेक्ष, दयालु और न्यायकारी होनेके कारण उससे कोई भूल नहीं हो सकती। राजा स्वार्थवश न्याय करता है, ईश्वर दयाके कारण जीवके उपकारके लिये न्याय करता है। यदि यह कहा जाय कि जब ईश्वरको कोई स्वार्थ नही है तब वह इस झगड़ेमें क्यों पड़ता है ? इसका उत्तर यह है कि ईश्वरके लिये यह कोई झगड़ा नही है। जैसे सुहृद्पुरुष पक्षपातरहित होकर दूसरोंके झगड़े निपटा देता है; पर मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, कुछ नही चाहता, इससे उसका महत्त्व संसारमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ईश्वर सारे संसारका उनके हितके लिये निःस्वार्थरूपसे अपनी सुहृदताके कारण ही न्याय करता है।

ईश्वर नियामक न होनेसे तो कर्मका भोग ही नहीं हो सकता।

इसमें एक युक्ति और विचारणीय है। एक मनुष्यने ऐसे पाप किये जिससे उसे कुत्ते की योनि मिलनी चाहिये। उसके कर्म तो जड होनेसे उसे उस योनिमे पहुँचा नहीं सकते (क्योकि विवेकयुक्त पुरुषकी सहायताके बिना रथ, मोटर आदि जड सवारियाँ अपने-आप यात्रीको उसके गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँचा सकती) और वह स्वयं पाप भोगनेके लिये जाना नही चाहता। यदि जाना चाहे तो भी नही जा सकता, क्योकि उसमें ऐसी शक्ति नही है। जब हमलोग सावधान अवस्थामे भी सर्वथा अपरिचित स्थानमे नही जा सकते, तब बिना विवेकके योनिपरिवर्तन करना तो असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि उस समय अज्ञानका परदा दूर हो जाता है तो यह भी युक्तियुक्त नही है, क्योंकि मरणकालमे तो दुःख और मोहकी अधिकतासे जीवकी दशा अधिक भ्रान्त-सी होती है। योगी या ज्ञानीकी-सी स्थिति होती नही। यदि अज्ञानका परदा हटकर उसका यों ही जीवन्मुक्त होना मान ले, तो यह भी युक्ति-सङ्गत नही, क्योकि भोग, प्रायश्चित्त या उपासना आदिके बिना पापोंका नाश होकर एकाएक किसीका जीवन्मुक्त हो जाना अयुक्त है। साधारण ससारी ज्ञानसे योनिप्रवेशादि क्रिया न तो सम्भव है और न प्रत्यक्ष दुःखरूप होनेके कारण साधारण पुरुषको इष्ट है तथा न उसकी सामर्थ्य ही है, अतएव यह सिद्ध होता है कि कर्मानुसार फलभोग करानेके लिये सृष्टिके स्वामी नियन्त्रणकर्ताकी आवश्यकता है और वह नियन्त्रणकर्ता ईश्वर अवश्य है।

ईश्वरभजनकी आवश्यकता क्यों है ?

मान लिया जाय कि शुभाशुभ कर्मानुसार फल अवश्य ही ईश्वर

देता है और वह कम-ज्यादा भी नही कर सकता, फिर उसके भजनकी क्या आवश्यकता है? इसी प्रश्नपर अब विचार करना है। प्रथम तो यह बात है कि ईश्वर-भजन एक सर्वोत्तम उपासनारूप कर्म हैं, परम साधन है, सबका शिरमौर है। इसके करनेसे इसीके अनुसार बुद्धिमे स्फुरणाएँ होती है और इस तरहकी स्फुरणासे बारंबार ईश्वर-भजन स्मरण होने लगता है, जिससे अन्त.करण शुद्ध होकर ज्ञानका परम दिव्य प्रकाश चमक उठता है। ज्ञानाग्निसे सञ्चित कर्मराशि दग्ध होकर पुनर्जन्मके कारणको नष्ट कर डालती है। इसीलिये भजन करना परम आवश्यक है।

दूसरे यह समझकर भी भजन अवश्य करना चाहिए कि यही हमारे जीवनका परम कर्तव्य है। माता-पिता की सेवा मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर करते है। फिर जो माता-पिताका भी परमपिता है, जो परम सुहृद् है, जिसने हमे सब तरहकी सुविधाएँ दी हैं, जो निरन्तर हमपर अकारण ही कृपा रखता है, जिस कल्याणमय ईश्वर-से हम नित्य कल्याणका आदेश पाते है, जो हमारे जीवनकी ज्योति है, अन्धेकी लकड़ी है, डूबते हुएका सहारा और पथभ्रष्ट नाविका एकमात्र ध्रुवतारा है, उसका स्मरण करना तो हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य ही है।

ईश्वरका स्मरण न करना बड़ी कृतघ्नता है, हम जब माता, पिता, गुरुके उपकारका भी बदला नही चुका सकते, तब परम सुहृद् ईश्वरके उपकारों का बदला तो कैसे चुकाया जा सकता है? ऐसी हालतमे उसे भूल जाना भारी कृतघ्नता-नीचातिनीच कार्य है।

ईश्वर सब कुछ कर सकता है 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ है,

परन्तु वह करता नहीं; अपने नियमोंकी आप रक्षा करता है और हमें पापोंकी क्षमा और पुण्योंका फल पानेके लिये उसके भजनका उपयोगही क्यों करना चाहिये ? पाप तो उनके भजनके प्रतापसे अपने आप नष्ट हो जाते है, जैसे सूर्यके उदयाभासमात्रसे अन्धकार नष्ट हो जाता है।

जबहिं नाम मनमें धरचो, भयो पापको नास।
जैसे चिनगी आगकी, परी पुरानी घास ।।

परन्तु भगवान्‌का भजन करनेवालेको यह भावना नहीं रखनी चाहिये कि इस भजनसे पाप नाश हो जायगा। भगवान्‌के रहस्यको समझनेवाला भक्त अपराध क्षमा करानेके लिये भी उसके भजनका उपयोग नहीं करता। जिस ईश्वरभजनसे मायारूप संसार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, क्या इस रहस्यको जाननेवाला पुरुष कभी तुच्छ सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भजनका उपयोग कर सकता है ? यदि करता है तो वह वड़ी भूल करता है। राजाको मित्र पाकर उससे दस रुपयेकी नालिशसे छुटकारा पानेकी प्रार्थना करनेके समान अत्यन्त हीन कार्य है। इसलिये भजनको किसी भी सांसारिक कार्यमें नहीं वर्तना चाहिये, परन्तु कर्तव्य समझकर ईश्वरभजन सदा-सर्वदा करते ही रहना चाहिये। क्योंकि भजनके आदि, मध्य और अन्तमें केवल कल्याण-ही-कल्याण भरा है।

—०—

मृत्यु-समयके उपचार

हिन्दू-जातिमें मनुष्यके मरनेके समय घरवाले उसका परलोक सुधारनेके बहाने कुछ ऐसे काम कर बैठते है जिससे मरनेवाले मनुष्यको वड़ी पीड़ा होती है। अतएव निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

१—यदि रोगी दो-तीन मंजिल ऊपर हो तो ऐसी हालतमें उसे नीचे लानेकी आवश्यकता नही।

२—खटियापर सोया हुआ हो तो वही रहने देना चाहिये।

३—यदि खटियापर मरनेमें कुछ वहम हो और नीचे उतारकर सुलानेकी आवश्यकता समझी जाय तो अनुमानसे मृत्युकाल-के दो-चार दिन पहलेसे ही उसे खाटसे नीचे उतारकर जमीनपर वालू विछाकर सुला दे। वालू ऐसी नरम होनी चाहिये जो उसके शरीरमे कहीं गड़े नही। दो-चार दिन

या दो-चार पहर पहलेका पता वैद्योसे पूछकर, रोगीके लक्षण देखकर और बड़े-बूढ़े अनुभवी पुरुषोंसे सलाह करके अंदाज कर ले। रोगी अच्छा हो जाय तो वापस खटियापर सुलानेमें कोई आपत्ति है ही नही, यदि अदाजसे पहले उसका प्राणान्त हो गया तो भी कुछ हानि नही है, बल्कि मृत्युकालमें नीचे उतारकर सुलानेमे जो कष्ट होता है, उससे वह बच गया। दो-चार दिन पहले रोगीको अनुमान हो जाय तो उसे स्वयं ही कह देना चाहिये कि मुझे नीचे सुला दो।

४—उस अवस्थामें मृत्युसे पहले उसे स्नान करानेकी कोई आवश्यकता नही,इससे व्यर्थमे उसका कष्ट बढ़ता है। मल वगैरह साफ करना हो तो गीले गमछेसे धीरे-धीरे पोछकर साफ कर देना चाहिये।

५—इस अवस्थामें गङ्गाजल, तुलसी देना बड़ा उत्तम है, परन्तु उसे निगलनेमे क्लेश होता हो तो तुलसीका पत्ता पीसकर उसे गङ्गाजलमे मिलाकर पिला देना चाहिये। एक बारमें एक तोलेसे अधिक जल नहीं देना चाहिये। दस-पॉच मिनट बाद फिर दिया जा सकता है। गंगाजल बहुत दिनोका विस्वाद न हो, पहले स्वय चखकर फिर रोगीको देना चाहिये। जिसमें गन्ध आने लगी हो, जो कड़वा हो गया हो वह नही देना चाहिये। ताजा गङ्गाजल कहीसे ही मँगा लेना चाहिये। गगाजलमें शुद्धि, अशुद्धि या स्पर्शास्पर्शका कोई विधान नही है। रोगी मुह बन्द कर ले तो उसे कुछ भी नही देना चाहिये।

६—रोगीके पास बैठकर घरका रोना नहीरोना चाहिये और ससारकी

बातें उसे याद नहीं दिलानी चाहिए। माता, स्त्री, पति, पुत्र या और किसी स्नेहीको उसके पास बैठकर अपना दुःख सुनाना या रोना नहीं चाहिए। उसके मनके अनुकूल उसकी हर तरहसे कल्याणमयी सेवा करना चाहिए।

७—डाक्टरी या जिसमे अपवित्र पदार्थोंका सयोग हो ऐसी दवा नहीं खिलानी चाहिये।

८—जहाँतक चेत रहे वहाँतक श्रीगीताका पाठ और उसका अर्थ सुनाना चाहिये। चेत न रहनेपर भगवान्‌का नाम सुनाना उचित है। गीता पढ़नेवाला न हो तो पहलेसे ही भगवान्‌का नाम सुनावे।

९—यदि रोगी भगवान्‌के साकार या निराकार किसी रूपका प्रेमी हो तो साकारवालेको भगवान्‌की छवि या मूर्ति दिखलानी चाहिये और उसके रूप तथा प्रभावका वर्णन सुनाना चाहिये। निराकारके प्रेमीको निराकार ब्रह्मके शुद्ध, बोधस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्, चित्, घन, नित्य, अज, अविनाशी आदि विशेपणोके साथ आनन्द शब्द जोड़कर उसे सुनाना चाहिये।

१०—यदि काशी आदि तीर्थोंमे ले जाना हो तो उसे पूछ ले। उसकी इच्छा हो, वहाँतक पहुँचानेमे शका न हो, वैद्योंकी सम्मति मिल जाय, उतने रुपये खर्च करनेकी शक्ति हो तो वहाँ ले जाय।

११—प्राण निकलने के बाद भी कम-से-कम पन्द्रह-बीस मिनटतक किसीको खबर न दे। भगवन्नामका कीर्तन करते रहे जिससे

वहाँका वायुमण्डल सात्त्विक रहे । रोनेका हल्ला न हो, क्योंकि उस समयका रोना प्राणीके लिये अच्छा नहीं है ।

१२–घरवाले समझदार हों तो उनको रोना नही चाहिये । दूसरे लोगोंको भी उनके पास जाकर उन्हें केवल सहानुभूतिके शब्द सुनाकर रुलानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ।

१३–शोक-चिह्न बारह दिनसे अधिक न रखना चाहिये ।

१४–कम उम्रके लड़के-लड़कियोंकी मृत्युका शोक नही मनावे ।

१५–मृतकके लिये शोकसभा न कर अपनी सावधानीके लिये सभा करनी चाहिये । यह बात याद करनी चाहिये कि इस प्रकार एक दिन हमारी भी मृत्यु होगी ।

१६–जीवन्मुक्त पुरुषकी मृत्युपर शोक न करे, ऐसा करना उसका अपमान करना है ।